अग्रदूत

समग्र

खंड एक

आचार्य श्री विद्यासागर जी

समग्र प्रकाशन, सागर (म. प्र.)

श्रमण शतकम्

श्रीवर्धमान! माऽय आकलय्य नत-सुराप्तमानमाय!।
विधींश्चामानमाय मचिरेण कलयामानमाय! ।।

अये श्री वर्धमान । नतसुर । आप्तमानमाय । अमानमाय ।
(त्व) विधीन् अमान् च अचिरेण अमा आकलय्य य मा (मा) कलय।

योगी करें स्तवन भाव भरे स्वरों से,
जो हैं सुसंस्तुत नरों, असुरो,सुरों से ।
वे वर्धमान गतमान मुझे बचावे,
काटें कुकर्म मम मोक्ष विभो ! दिलावें ।।१।।

अर्थ– जिनके समक्ष देव नम्रीभूत है–जिन्होने ज्ञान लक्ष्मी ओर यश को प्राप्त किया है तथा जो मानओर माया से रहित है, ऐसे हैं वर्धमान जिनेन्द्र । मेरे कर्म और जन्म–जरा–मत्युरूप रोगो को एक साथ शीघ्र ही नष्ट कर मुझे कल्याणरूप अवस्था अथवा सुयश। को प्राप्त कराओ ।।१।।

प्रणमामि 'कुन्दकुन्दं' भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दम्।
गतं च समताकुं दं परमं सम्यक्त्वैककुन्दम्।।

भव्यपद्मबन्धु धृतवृषकुन्द, समताकु गत परम द च (गत)
सम्यक्त्वैककुन्द 'कुन्दकुन्द' प्रणमामि।

हे कुन्दकुन्द मुनि ! भव्य-सरोज-बन्धु,
मैं बार-बार तव पाद-सरोज वंदूं ।
सम्यक्त्व के सदन हो समता सुधाम ।
है धर्म-चक्र शुभ धार लिया ललाम ।।३।।

अर्थ– जो भव्य जीवरूपी कमलो के बन्धु हैं –उन्हे हर्षित करने वाले हैं जिन्होंने धर्म चक्र को धारण किया है जो समतारूपभूमि तथा श्रेष्ठ पवित्रता को प्राप्त हैं और सम्यग्दर्शन ही जिनकी अद्वितीय निधि है उन कुन्दकुन्दाचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ ।।३।।

अये ! सरस्वति ! मातः संसारादहमतिभीतो मातः।
विलम्बं कलय मा त उपासकं प्रपालय माऽतः।।

अये सरस्वति मात ! अह ससारात मात अतिभीत अत विलम्ब मा कलय
ते उपासक मा (मा) प्रपालय।

हे शारदे ! अब कृपा कर दे जरा तो,
तेरा उपासक खरा, भव से डरा जो !
माता ! विलम्ब करना मत, मैं पुजारी,
आशीष दो, बन सकूं बस निर्विकारी ।।५।।

अर्थ– हे सरस्वतिमात ! मैं ससाररूप वध से अत्यन्त भयभीत हूँ अत विलम्ब मत करो अपने सेवक–मुझ की रक्षा करो ।।५।।

मनाङ् मानं मोरसि मुनिरेतु रचयतु रुचिं जिनवचसि।
वसत्वरण्ये रहसि स्नातुमिच्छति स्वचित्सरसि।।

मुनि उरसि मनाङ् मान मा एतु। (चेत्) स्वचित सरसि स्नातुम
इच्छति (तदा) जिनवचसि रुचि रचयतु रहसि अरण्ये (च) वसतु।

विद्धान मान मन मे मुनि जो न धारे,
वे 'वीर' के वचन से मन को सुधारें ।
जाके रहे विपिन में मन मोद पाते,
हैं स्नान आत्म-सर में करते सुहाते ।।७।।

अर्थ– मुनि को चाहिये कि वह हृदय मे किन्चित् भी मान को प्राप्त न हो । यदि वह आत्मज्ञान रूपी सरोवर मे स्नान करना चाहता है तो जिनवचन–जिनागम मे रूचि करे एव एकान्त वन मे निवास करे ।।७।।

भवता विषयवासनाऽपास्यतामुपास्यतां निजभावना।
प्रोहेति जैनोऽमना यद् भवन्तमटेत् शिवाङ्गना।।

भवता विषयवासना अपास्यताम निजभावना उपास्यताम।
यद् भवन्त शिवाङगना अटेत–इति अमना जैन प्राह।

तू छोड के विषमयी उस वासना को,
निश्चिन्त हो,कर निजीय उपासना को ।
निर्भ्रान्त ही शिवरमा तुझको वरेगी,
योगी कहे, परम प्रेम सदा करेगी ।।६।।

अर्थ - हे साधो! तुम्हे विषयवासना–इन्द्रिविषयो की अभिरुचि छोड देनी चाहिए और स्व- स्वरूप की भावना करना चाहिये जिससे मुक्तिरूपी स्त्री तुझे वर सके ऐसा मायमनरहित केवलज्ञानी जिनदेव ने कहा है ।।६।।

स्वानुभवकरणपटवस्ते तान्विकतपस्तनूकृतत्तनव.।
विविक्तपटाश्च गुरवरित्तिष्ठन्तु हृदि मे मुमुक्षवः।।

स्वानुभवकरणपटव तान्विकतपस्तनूकृतत्तनव मुमुक्षव
विविक्तपटाश्च ते गुरव मे हृदि तिष्टन्तु।

नाना प्रकार तप से तन को तपाया,
है छोड वस्त्र जिनने अघ को हटाया ।
पाया निजानुभव को निज को दिपाया,
मैंने उन्हें विनय से उर बीच पाया ।।११।।

अर्थ– जो स्वानुभाव के करने मे निपुण है, जिनका शरीर, शारीरिक तप से कृश हो गया है, जिन्होने वस्त्र का परित्याग कर दिया है और जो मोक्षाभिलाषी हैं वे गुरु हमारे हृदय मे स्थित हो । मै निरन्तर उनका ध्यान करता हू ।।११।।

जितक्षुधादिपरिषहः पुद्लकृतरागादि-भावासहः।
वीतरागतामजहच्चाञ्चति यतिः स्वं मुदा सह।।

जितक्षुधादिपरिषह पुद्गलकृत–रागादि–भावासह
वीतरागताम् अजहत यति स्व मुदा सह अञ्चति।

जो जीतता सब क्षुधादि परीषहों को,
संहार रागमय-भाव स्ववैरियों को ।
है वीतराग बनता वह शीघ्रता से,
शुद्धात्म को निरखता, बचता व्यथा से ।।१३।।

अर्थ– जिसने क्षुधा आदि परिषहो को जीत लिया है जो पुद्गलकृत रागादिभावो को सहन नहीं करता है और वीतरागता को नही छोडता है, ऐसा साधु हर्ष के साथ स्वात्मा को प्राप्त होता है ।।१३।।

अमन्दमनोमराल ! विविक्तविविधविकल्पवीचिजालम्।
कलितवृषकमलनालं वित्-सरो मुक्त्वाऽन्येनालम्।।

अमन्दमनोमराल। विविक्त–विविध–विकल्पवीचिजाल
कलितवृषकमलनाल वित्सर मुक्त्वा अन्येन आलम्।

सद्बोध रुप हैं सर शोभित है विशाल,
ना हैं जहाँ वह विकल्प तरंग-जाल ।
शोभे तथा परम धर्म पयोज प्यारे,
तू छोड के मनमराल ! उसे न जा रे ! ।।१५।।

अर्थ–हे चचलमनरूपी हस। नाना विकल्परूपी तरगो के जाल से रहित तथा धर्मरूप कमल की मृणालो से सहित जो ज्ञानरूपी सरोवर है उसे दोड अन्य सरोवर व्यर्थ है ।।१५।।

सुपीतात्मसुधारसः संयमी सुधीर्यश्च सदाऽरसः।
ऋषे! विषयस्य सरसः किल किं वार्वाञ्छति नरः सः?।।

ऋषे ! य सुपीतात्मसुधारस सुधी सयमी सदा अरस स
नर विषयस्य वार् किल वाञ्छति ?

सद्बोध से परम शोभित जो यहाँ है,
पीयूष पी स्वपद में रमता रहा है।
क्या संयमी विषय-पान कदापि चाहे ?
जो जीव को विष समान सदैव दाहे ।।१७।।

अर्थ- हे ऋषे ! जिसने आत्म रूपी अमृतरस का अच्छी तरह पान किया है जो संयमी है हिताहित के विवेक से सहित है। और सदा विषयास्वाद से विरक्त है, वह मनुष्य विषयरूपी तालाब के जल की क्या इच्छा करता है ? अर्थात् नहीं ।।१७।।

व्रतिनो न शल्यत्रयं कलयन्तु किलाऽखिलारत्नत्रयम्।
शुद्धं स्पृशन्त्वत्र यं निजात्मानं स्तुतजगत्त्रयम्।।

अखिला व्रतिन किल रत्नत्रय कलयन्तु न शल्यत्रयम्।
य स्तुतजगत्त्रय शुद्ध निजात्मानम अत्र स्पृशन्तु।

मायादि शल्य-त्रय को मुनि नित्य त्यागे,
ज्ञानादि रत्नत्रय धार सदैव जागें ।
वे शुद्धतत्व फलतः पल में लखेंगे,
संसार में परम सार उसे गहेगें।।१६।।

अर्थ–समस्त व्रती मनुष्य यथार्थ में रत्नत्रय को प्राप्त हों–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। माया मिथ्यात्व और निदानरूप शल्य को प्राप्त न हों। साथ ही उस रत्नत्रय रूप एवं जो जगत्त्रय के द्वारा स्तुत निजशुद्ध आत्माका स्पर्श–अनुभव करें ।।१६।।

जिनसमयं जानीत आत्मानं नेति जिनेन स गीतः।
यद्यपि यो भवभीतः प्रमादेन विकारं नीतः।।

'यद्यपि यो भवभीत प्रमादेन विकार नीत जिनसमय जानीते
स आत्मान न (जानीते)' -इति जिनेन (स) गीत ।

संसार से बहुत यद्यपि जो डरा है,
जाना जिनागम सभी जिसने खरा है ।
आत्मा उसे न दिखता, यदि है प्रमादी,
ऐसा सदैव कहते गुरु सत्यवादी ।।२१।।

अर्थ- यद्यपि जो संसार से भयभीत है परन्तु प्रमाद से विकार को प्राप्त हो गया है वह जिनसमय-जिनशास्त्र को जानता हुआ भी आत्मा को नहीं जानता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।।२१।।

सद्दृग्विद्भ्यां मित्रं युक्तं व्यक्तमात्मनश्च चरित्रम् ।।
सुखं ददाति विचित्रं तीर्थं त्वं धारय पवित्रम् ।।

सद्दृग् विद्भ्या युक्त व्यक्त यत् विचित्र सुख ददाति
तीर्थ पवित्र मित्र (एतादृश)आत्मन चरित्र त्व धारय।

होते घनिष्ठ जिसके दृग-बोध साथी,
होता वही चरित आतम का सुखार्थी।
देता निजीय सुख,तीरथ भी कहाता,
तू धार मित्र ! उसको दुःख क्यों उठाता?।।२३।।

अर्थ–सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त प्रकट हुआ जो विविध सुख को देता है मित्र तथा तीर्थ स्वरूप उस आत्मचारित्र–निश्चयचारित्र को हे श्रमण ! धारण करो।।२३।।

समुपलब्धौ समाधौ साधुस्तथागतरागाद्युपाधौ ।
यथा सरिद् वारिनिधौ मुदमुपैति च निर्धनो निधौ ।।

गतरागाद्युपाधौ समुपलब्धौ समाधौ साधु तथा मुदम उपैति,
यथा सरित् वारिनिधौ निर्धन च निधौ (उपैति)।

रागादि भाव जिसमें न, वही समाधि,
पाके उसे मुदित हो मुनि अप्रमादी।
होती नदी अमित सागर पा यथा है,
किं वा दरिद्र खुश हो निधि पा अथाह ।।२५।।

अर्थ रागादिरूप उपाधि से रहित शुक्लध्यान के प्राप्त होने पर मुनि उस प्रकार हर्ष को प्राप्त होता है, जिस प्रकार समुद्र के प्राप्त होने पर नदी और खजाना के मिलने पर दरिद्र मनुष्य।।२५।।

प्राप्तो यैरेवैष स्वात्मानुभवो गतरागद्वेषः।
तैर्जगति को ऽवशेष· प्राप्तव्योऽत्र ततो विशेष· ।।

एष गतरागद्वेष स्वात्मानुभव यै (एष) प्राप्त तै
अत्र जगति तत विशेष क प्राप्तव्य अवशेष ?

जो भी निजानुभव को जब प्राप्त होते,
वे रागद्वेष लव को न कदापि ढोते।
तो कौन सा फिर पदार्थ रहा ?
प्राप्तव्य जो कि उनको न रहा विशेष ।।२७।।

अर्थ- जिन महानुभावो ने रागद्वेष से रहित स्वानुभव को प्राप्त कर लिया उन्हे इस जगत् मे स्वानुभव से अधिक और विशेष बाकी क्या रहा ? अर्थात् कुछ नही ।।२७।।

बध्यते विध विधिः स प्राहेति बोधैकनिधिर्विधिः।
साधुर्विहितात्मविधिः येनाधिगतो हि विधेर्विधिः।।

येन हि विधे अधिगत विधि साधु (भवति)।
स बोधेकनिधि– विधि विधिना बध्यते इति प्राह।

सम्बन्ध होत विधि से विधि का सदा है,
बोधैकधाम 'जिन'ने जग को कहा है।
ऐसा रहस्य फिर भी मुनि ने गहा है,
जो आत्मभाव करता साहस रहा है ।।२६।।

-

अर्थ–जिसने विधि–कर्म–भाग्य की विधि को जान लिया, जिसने आत्मा का विधि–कार्य–सवर निर्जरा सम्पन्न कर ली है और सम्यग्ज्ञान ही जिसकी अद्वितीय निधि है ऐसा साधु अपनी विधि–नियमित चर्या से बद्ध होता है बँधा रहता है ऐसा विधिब्रम्हा–जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।।२६।।

भवत्यां भोगसंपदि मुनिर्मोदमेति न कदापि सपदि।
धारयति समतां हृदि हा ! न विषण्णो भवति च विपदि।।

भोगसपदि भवत्या (सत्या) सपदि मुनि कदापि मोद न एति ।
हा ! (स) विपदि विषण्णो न भवति हृदि (च)समता धारयति ।

संपूर्ण भोग मिलने पर भी कदापि,
भोगी नहीं मुनि बने, बनते न पापी ।
पीते तभी सतत हैं समता सुधा को,
गाली मिले, न फिर भी करते क्रुधा को।।३१।।

अर्थ–भोगसपदा के रहते हुए मुनि कभी भी शीघ्र हर्ष को प्राप्त नहीं होता । हृदय मे समता को धारण करता है और हर्ष है कि विपत्ति मे खेद खिन्न भी नहीं होता।।३१।।

जलाशये जलोद्भवमिवात्मानं भिन्नं जलतोऽनुभव।
प्रमादी माऽये भव भव्य ! विषयतो विरतो भव ।।

अये! भव्य! प्रमादी मा भव विषयत विरतो भव ।
आत्मान जलाशये जलोद्भवम् इव जलत भिन्नम् अनुभव ।

जैसे कहे जलज जो जल से निराला,
वैसे बना रह सदा जड से खुशाला ।
क्यो तू प्रमत्त बनता, बन भोग त्यागी,
रागी नहीं बन कभी, बन वीतरागी ।।३३।।

अर्थ–हे भव्य तू प्रमादी मत हो पञ्चेन्द्रियो के विषय से निवृत्त हो। जिस प्रकार जलज–कमल जल से उत्पन्न होकर भी अपने आपको जल से भिन्न रखता है। उसी प्रकार तू भी ससार से उत्पन्न होकर भी जड–पौद्गलिक ससार से अपने आपको पृथक अनुभव कर। ।।३३।।

विगतेऽघे मनोभुवि विहरति शुद्धात्मनि मुनिः स्वयंभुवि।
कथं बद्धः प्रभुर्विः खे चरितु-मिदमसाध्यं भुवि ।।

अघे मनोभुवि गते (सति) शुद्धात्मनि स्वय भुवि मुनि विहरति ।
(यथा) बद्ध वि खेचरितु कथ प्रभु? इद भुवि असाध्य (वर्तते)।

हो काम नष्ट,अघ भी मिटता यदा है,
योगी विहार करता निज में तदा है ।
आकाश में विहग क्या फिर भी उडेगा?
जो जाल में फॅस गया, फिर क्या करेगा?।।३५।।

अर्थ–पापी काम के नष्ट हो जाने पर मुनि अनाद्यनत्त शुद्धात्मा मे रमण करता है। जैसे जाल मे बॅधा पक्षी क्या आकाश मे उडने के लिए ासमर्थ है? अर्थात् नही है। यह कार्य पृथिवी मे असाध्य है ।।३५।।

यत् संसारे सारं स्थायीतरमस्ति सर्वथाऽसारम् ।
सारं तु समयसारं मुक्तिर्यल्लभ्यते साऽरम् ।।

ससार यत् स्थयीतर सार (तत्) सर्वथा असारम् अस्ति।
सार तु समयसारम् (एव) यत् सा मुक्ति अर लभ्यते।

संसार में धन न सार, असार सारा,
स्थायी नही,न उनसे सुख हो अपारा।
है सार तो समय-सार अपार प्यारा,
हो प्राप्त शीघ्र जिससे वह मुक्तिदारा।।३७।।

अर्थ–ससार मे जो क्षणभडगुर सार–धन है वह सब प्रकार से असार है–सारहीन है। सार–श्रेष्ठ तो समयसार–शुद्धात्म परिणति ही है जिससे वह मुक्ति शीघ्र प्राप्त होती है।।३७।।

सरस्तत् पुष्करेण यतितिमिर्भातु ध्यानपुष्करेण।
मृदुता च पुष्करे न नरेऽविरते गीः पुष्करे न।।

तत सर पुष्करेण भातु, यतितिमि ध्यानपुष्करेण (भातु) पुष्करे च मृदुता (भातु)
अविरते नरे न (भातु) पुष्करे गी न (भातु)।

शोभे सरोज-दल से सर ठीक जैसा,
सद्ध्यान रूप जल से मुनि-मीन वैसा।
हो कंज में मृदुपना, न असंयमी में,
'ना शब्द व्योम गुण है'-कहते यमी हैं ।।३६।।

अर्थ–वह सरोवर पुष्कर–कमल से सुशोभित हो और मुनिरूप मीन ध्यानरूपी पुष्कर- जल से सुशोभित हो। कोमलता पुष्कर–कमल मे सुशोभित हो असंयमी मनुष्य मे नही और शब्द पुष्कर आकाश मे नही।।३६।।

स्वानुभवैकयोगतः परां वीतरागतां यो गतः।
बिभेत्यङ्गवियोगतः किं चलति शुद्धोपयोगतः।।

स्वानुभवैकयोगत य परा वीतरागता गत स किम्
अङ्गवियोगत बिभेति? शुद्धोपयोगत चलति?

योगी निजानुभव से पर को भुलाता,
है वीतरागपन को फलरूप पाता ।
वो क्या कभी मरण से मुनि हो डरेगा ?
शुद्धोपयोग धन को फिर क्या तजेगा ?।।४१।।

अर्थ–जो मुनि स्वानुभव के अद्वितीय सयोग से वीतरागता को प्राप्त हुआ है वह क्या शरीर के वियोग से डरता है ? और शद्धोपयोग से विचलित होता है? अर्थात् नहीं ?।।४१।।

यो दूरो निजस्वतश्चरति च दृक्कंजविकास-भास्वतः।
स हि परभावनास्वतः कुर्याद् रुचिमज्ञानी स्वतः।।

दृक्कंजविकासभास्वत निजस्वत य दूर चरति
अत स हि अज्ञानी परभावनासु स्वत रुचि कुर्यात।

जो भानु है, दृग-सरोज विकासता है,
योगी सुदूर रहता उससे यदा है।
वो तो तदा नियम से पर भावनाये,
हा ! हा ! करे, सहत हे फिर यातनाये।।४२।।

कलय व्रतानि पञ्च तापपदानि मुञ्च पापानि पञ्च।
नो हि रागप्रपञ्च-मजं भज स्तुतशत-सुरपञ्च।।

पञ्च व्रतानि कलय तापपदानि पञ्च पापानि मुञ्च।
स्तुतशतसुरपम् अज भज, रागप्रपञ्च नो हि (भज)।

ये पंच पाप इनको बस शीघ्र छोडो,
धारो महाव्रत सभी मन को मरोडो ।
औ ! राग का तुम समादर ना करो रे !
देवाधिदेव 'जिन' को उर में धरो रे ! ।।४३।।

अर्थ–अहिसा आदि पाचव्रतो को धारण करो, दु ख के स्थानभूत पाँच पापो को छोडो । राग का विस्तार मत करो और सौ इन्द्रो के द्वारा स्तुत जिनदेव की सेवा करो।।४३।।

भवहेतुभूता क्षमा त्यक्ता जिनेन या स्वीकृता क्षमा।।
तां विस्मर नृदक्ष ! मा, यतः सैव शिवदाने क्षमा।।

या भवहेतुभूता क्षमा जिनेन त्यक्ता (याच) क्षमा स्वीकृता हे नृदक्ष !
ता (क्षमा) मा विस्मर यतः सा एव शिवदाने क्षमा (वर्तते)।

रे ! 'वीर'ने जडमयी तज के क्षमा को,
है धार ली तदुपरान्त महा क्षमा को।
जो चाहते जगत में बनना सुखी हैं,
धारे इसे, परम मुक्ति-वधू सखी है ।।४४।।

प्रत्ययो यस्य वृत्तं जिने निजचिन्तनतो मनो वृत्तम्।
तस्य वृतं हि वृत्तं कथयतीतीदमत्र वृत्तम्।।

यस्य जिने प्रत्ययो वृत्त, निजचिन्तनत (यस्य) मन वृत्त,
तस्य वृत्त हि वृत्तम्–इति इद वृत्तम् अत्र कथयति।

आस्था घनिष्ठ निज में जिनकी रही है,
विज्ञान से चपलता मन की रुकी है।
होता चरित्र उनका वर मोक्ष-दाता,
ऐसा रहस्य यह छन्द हमें बताता ।।४५।।

अर्थ–जिसका जिनेन्द्र भगवान् मे विश्वास है और आत्मचिन्तन मे जिसका मन लगा हुआ है उसी का चारित्र वास्तव मे चारित्र है ऐसा रहस्य यहाँ यह छन्द हमे बता रहा है।।४५।।

रुचिमेति कुधीः के न परवस्तुदत्तचित्तो युतोऽकेन।
स्वस्थो जीवति केन सह मुनिस्तं नमामि केन।।

अकेन युत परवस्तुदत्तचित्त कुधी के न रुचिम एति।
स्वस्थ मुनि केन सह जीवति त केन नमामि।

आत्मा जिसे न रुचता वह तो मुधा है,
मिथ्यात्व से रम रहा पर मे वृथा है।
ज्ञानी निजीय घर में रहते सदा ये,
वन्दूँ,उन्हें, द्रुत मिले निज संपदाये ।।४६।।

न निश्चयेन नयेन किन्त्वलङ्कृतस्तद्विपयेण येन।
यस्तं व्रजेन्नयेन मुक्तिरसंयमिनस्तान् ये न।।

य निश्चयेन नयेन न अलकृता किन्तु तद् (तस्य निश्चयनयस्य) विपयेण येन
(अलकृत) तं (नर) मुक्ति नयेन व्रजेत। (परन्तु) ये असंयमिन तान् न (व्रजेत)।

जो मात्र शुद्धनय से न हि शोभता है,
पै वीतरागमय भाव सुधारता है।
लक्ष्मी उसे वरण है करती खुशी से,
सागार को निरखती तक ना इसी से।।४८।।

त्व त्याज्यं त्यज मानं विस्मर यममलमात्मानं मा नम्।
भवन्नमानी मान गतः स जिनोऽनन्यसमानम्।।

त्व त्याज्य मान त्यज यम अमलम् आत्मान न मा विस्मर।
स जिन अमानी भवन् अनन्यसमान मान गत ।

''है पूर्व में मुनि सभी बनते अमानी,
पश्चात् जिनेश बनते,' यह 'वीर' वाणी ।
तू भी अभी इसलिये तज मान को रे,
शुद्धात्म को निरख,ले सुख की हिलोरें ।।४६।।

अर्थ–हे मुने ! तू छोडने योग्य मान को छोड। प्रशस्त निर्मल आत्मा तथा जिनदेव को मत भूल । वह जिनदेव मान–गर्व रहित होते हुए अनुपम–अद्वितीय मान–ज्ञान अथवा आदर को प्राप्त हुये है।।४६।।

यदि भवभीतोऽसि भवं भज भक्त्याऽभवमिच्छसि भव्य भवम्।
दृशावस्य मनोभवं त्वङ्कुरु शुच्या निजानुभवम्।।

भव्य ! यदि भवभीत असि अभव भवम् (च) इच्छसि चेत् शुच्या दृशा
मनोभवम् आवस्य त्व भक्त्या भव भज निजानुभव (च) कुरु।

संसार सागर किनार निहारना है,
तो मार मार,दृग को द्रुत धारना है ।
ओ ! जातरूप 'जिन' को नित पूजना है,
भाई ! तुझे परम आतम जानना है ।।५०।।

सन्तः समालसन्तः सन्तु सन्ततं स्वे स्वकं भजन्तः।
अन्तेऽनन्ततामतः प्रयान्तु शिवालये वसन्तः।।

सन्त स्वक भजन्त (अतएव) समालसन्त स्वे सन्तत सन्तु।
अत अन्ते शिवालये वसन्त अनन्तता प्रयान्तु।

सल्लीन हों स्वपद में सब सन्त साधु,
शुद्धात्म के सुरस के बन जाये स्वादु ।
वे अन्त में सुख अनन्त नितान्त पावें,
सानन्द जीवन शिवालय मे बितावें ।।५१।।

अर्थ–साधुजन स्वकीय आत्मा का भजन करते हुये एव सम्यक् प्रकार से सुशोभित होते हुए निरन्तर आत्मा मे रहे–उसी का चिन्तन–मनन करे। इससे अन्त मे मुक्तिधाम मे रहते हुए अनन्तता–अविनश्वरता को प्राप्त हो।।५१।।

सुकृतैनोभ्यां मौनमिति व्रज मत्वाहं देहमौ ! न।
ध्रुवौ धर्मावमौ न रागद्वेषौ च ममेमौ नः !।।

ओं ! न ! अहं देह न मम इमौ रागद्वेषौ इमौ ध्रुवौ
धर्मौ न – इति मत्वा सुकृतैनोभ्यां मौन व्रज।

'ये रोष-रागमय भाव विकार सारे,
मेरे स्वभाव नहिं हैं '-.बुध यो विचारें ।
ये पाप पुण्य ,इनमे फिर मौन धारे,
ओं देह-स्नेह तजके निज को निहारे ।।५२।।

भावना चेद्धि भवतः कदा निवृत्तिरियमिति भवेद् भवतः।
निक्षिपतु मनोऽभवतः पदयोर्दूरं मनोभवतः।।

'भवत इय निवृत्ति कदा भवेत्" इति हि भवत भावना चेत्
(अ) भवत पदयो मन निक्षिपतु मनोभवत (मन) दूर निक्षिपतु।

संसार के जलधि से कब तैरना हो,
ऐसी त्वदीय यदि हार्दिक भावना हो ।
आस्वाद ले जिनप-पाद -पयोज का तू,
ना नाम ले अब कभी उस 'काम'का तू ।।५३।।

अर्थ–'ससार से यह निवृत्ति कब होगी ऐसे निश्चय से यदि तेरी भावना है तो तू अभवत–जन्म ग्रहण न करने वाले अरहन्त के चरणो मे मन लगा और काम से मन को दूर रख ।।५३।।

स ना नैति नालीक. स्वं तेनेतोऽर्थोऽतो नालीकः।
यः समाननालीकः शिवश्रियेऽप्यस्तु नालीकः?।।

स ना नालीकं [illegible] स्वं न एति। अतः [illegible] तेन अलीकं अर्थं [illegible] (च)
समान नालीकः (वर्तते) स शिवश्रिये अपि [illegible] न अस्तु ? (अस्तु एव इत्यर्थः)

संसार-बीच बहिरातम वो कहाता,
झूठा पदार्थ गहता, भव को बढाता।
बेकार गान करता निज को भुलाता,
लक्ष्मी उसे न वरती, अति कष्ट पाता।।५४।।

तेनाऽऽप्यते साऽऽशु चिदेकमूर्तिश्च गतार्थैकाऽशुचिः।
धृतदशधर्मैकशुचिर्यो निजं श्रमणः श्रयति शुचिः।।

गतार्थैकाऽशुचि चिदेकमूर्ति च सा आशु तेन आप्यते,
य श्रमण धृतदशधर्मशुचि शुचि निज श्रयति।

जो पाप से रहित चेतन मूर्ति प्यारी,
हो प्राप्त शीघ्र उनको भव-दुःखहारी।
जो भी महाश्रमण हैं निज गीत गाते,
सच्चे क्षमादि दश धर्म स्वचित्त लाते।।५५।।

अर्थ– उस श्रमण–साधु के द्वारा वह प्रसिद्ध–ज्ञानिजन सुलभ अर्थपुरूषार्थ सम्बन्धी अपवित्रता से रहित चैतन्य की अद्वितीयमूर्ति प्राप्त की जाती है, जो दशधर्म सम्बन्धी पवित्रता को धारण करने वाला उज्ज्वलहृदय श्रमण निज आत्मा का आश्रय लेता है।।५५।।

परिणतो दृशा साकं यदि नैति विधेरुदयात् सहसाऽकम्।
कं मुक्तिरेतु साकं कश्चामितं तदाञ्जसा कम्।।

यदि सा दृशा साकं परिणतः विधेः उदयात् सहसा अकं एति तदा सा
मुक्तिः कं कं अञ्जसा एतु ? कः (वा) अमितं कम् (एतु)?

सम्यक्त्व-लाभ वह है किस काम आता,
हं कर्म का उदय ही यदि पाप लाता ।
तो हाय ! मुक्ति-ललना किसको वरेगी ?
वो सम्पदा अतुलनीय किसे मिलेगी ।।५६।।

निजीयं ननु नरायं श्रयन्तु मुनयो जडमयं न रायम्।
चेन्न ते (किं) (वा) नरा यं वाञ्छन्ति न विज्ञा नरायम्।।

ननु मुनय निजीय श्रयन्तु जडमय राय न। चेत् न,
ते किन्नरा (वानरा) विज्ञा नरा य य न वाञ्छन्ति।

लेवें निजीय विधि का मुनि वे सहारा,
संसार मूल जड वैभव को बिसारा ।
ना चाहते विबुध वे यश सम्पदा को,
हाँ,चाहते जड उसे,सहते व्यथा को ।।५७।।

अर्थ–मुनि आत्मसम्बन्धी पूज्यधन का अवलम्बन लेवे अचेतनधन का नहीं। यदि ऐसा नहीं करते है तो वे किन्नर है–खोटे मनुष्य हैं अथवा वानर है। ज्ञानी मनुष्य यश की इच्छा नही करते। ।।५७।।

अत्र सुखं न वै भवे स्वीये कथमपि कुरु रुचिं वैभवे।
माने वचसि वैभवे मा भ्रम मुधा मुने ! वै भवे।।

वै अत्र भवे सुखं न। वै मुने! कथमपि स्वीये वैभवे [illegible]
([illegible]) रुचिं कुरु। भवे मुधा मा भ्रम।

संसार में सुख नहीं, दुःख का न पार,
ले आत्म में रुचि भला,सुख हो अपार ।
सिद्धान्त का मनन या कर चाव से तू,
क्यों लोक में भटकता पर भाव से तू ? ।।५८।।

ते यान्ति सुखं समये समावसन्ति हि सदाधिगतसम ! ये।
दु:ख हि गते समये कार्यमपि च कृतं तदसमये।।

(हे) अधिगतसम ! ये समये सदा समावसन्ति हि ते सुख यान्ति।
हि समये गते दु खम् असमये कृत तत कार्यम् अपि च (दु खम्)।

जो भी रहे समय में रत, मौन धारे,
पाते अलौकिक सही सुख शीघ्र सारे।
वो विज्ञ ना समय का, वह कष्ट पाता,
पीडार्त हो,समय है जब बीत जाता ।।५६।।

अर्थ–हे अधिगतसम ! हे श्रेष्ठ पदार्थो को प्राप्त करने वाले श्रमण ! जो गुनि सदा समय–शुद्धात्मा मे वास करते है–उसका ध्यान करते है वे निश्चय से सुख को प्राप्त होते है। क्योकि समय–सिद्धान्त अथवा योग्यकाल के निकल जाने पर दु ख होता है इसके सिवाय जो कार्य असमय–अयोग्यकाल मे किया जाता है वह भी दु ख रूप होता है ।।५६।।–

त्वं सुदृशाऽऽगच्छममितगुणानां सदा समागच्छ।
मा कमपि च मागच्छ वदात्रेति शीघ्रमागच्छ।

अमितगुणानां [illegible] त्वं सुदृशा आ[illegible] सदा समागच्छ। अत्र शीघ्रम् आगच्छ
(वद) मा गच्छ इति कमपि च मा वद।

आत्मा अनन्त-गुण-धाम, सदैव जानो,
सम्यक्त्व प्राप्त करके निज को पिछानो।
जाओ वहाँ, इधर या तुम शीघ्र आओ,
आदेश ईदृश नहीं पर को सुनाओ ॥६०॥

खविषयो यो नागतः समादृतश्च येन गतोऽनागतः।
सत्यं यश्च नागतः किं बिभेति यते ! स नागतः

(हे) यते ! य आगत गत अनागत खविषय येन च न समादृत य
(च) ना सत्य गत स कि नागत बिभेति ? (न इति)

भोगे हुए विषय को मन मे न लाता ।
औ प्राप्त को पकडना न जिसे सुहाता ।
कांक्षा नहीं उस अनागत की करेगा,
वो सत्य पाकर कभी अहि से डरेगा ?।।६१।।

अर्थ–हे मुने ! जो वर्तमान मे प्राप्त है पहले प्राप्त थे और आगे प्राप्त होगे–ऐसे तीन काल सम्बन्धी इन्द्रियविषय जिसके द्वारा आदर को प्राप्त नहीं हुए है। साथ ही, जो मनुष्य सत्य–यथार्थवस्तुस्वरूप को जान चुका है वह क्या नाग–सर्प से भयभीत होगा? अर्थात् नही।।६१।।

ते मुनिजनका नत्वा स्वरसं कलयन्ति कजनका न! त्वा।
जनाः (नराः) पयः किं न त्वाऽऽस्वाद्यंपक्वपौंडकानत्त्वा।।

हे न ! ते मुनिजनका कजनका (ये) त्वां नत्वा स्वरसं कलयन्ति। जना (नरा) पक्वपौण्डकान् अत्वा आस्वाद्य पयः किं [illegible] (कलयन्ति) ? [illegible]

हे वीर देव ! तुमको नमते मुमुक्षु,
पीते तभी स्वरस को सब सन्त भिक्षु।
क्यों बीच में मनुज तेज कचांडि खाते ?
पश्चात् अवश्य फलतः हलुवा उड़ाते ।।६२।।

जिनपदपद्मयमस्य नुमञ्चति स यश्चादरं यमस्य।
वाणीरितीयमस्य सन्मतेश्च गुरोर्जितयमस्य।।

'य जिनपदपद्यमस्य नुम् अञ्चति –स (च) यमस्य आदरम् अञ्चति'
इति सन्मते गुरो अस्य जितयमस्य च इय वाणी (वर्तते)।

चारित्र का नित समादर जो करेंगे,
वे ही जिनेन्द्र-पद की स्तुति को करेंगे !
ऐसा सदैव कहती प्रभु भारती है,
नौका-समान भव पार उतारती है ।।६३।।

अर्थ– जो जिनेन्द्रदेव के चरणकमलयुगल की स्तुति को प्राप्त होता है वह चारित्र के आदर को प्राप्त होता है, ऐसी महावीर तथा मृत्युजयी गुरू की वाणी है ।।६३।।

योऽस्ति न सदाहारं रत्नत्रय च कलयति न सदा हारम्।
गतमानसदाहाऽरं तमेतु स त्रासदं हा । रम्।।

[illegible]
[illegible]

आहार जो न करते समयानुसार,
औ धारते न रतनत्रय-रूप हार ।
रागाग्नि से सतत वे जलते रहेंगे,
संसार वारिधि महा फिर क्यों तिरेंगे ?।।६४।।

सुखिन· सुखे सखे न मरुत्सखाः खेचरोऽयुत· सखेन।
नरो जिनदास ! खे न ह्यार्तस्ततः स्वे वस खे न।।

सखे जिनदास । मरुत्सखा सुखे सुखिन न स खेचर खेन अयुत
नर खेन आर्त तत स्वे वस, खे न (वस)।

देखो सखे ! अमर लोग सुखी न सारे,
वे भी दुःखी सतत, खेचर जो बिचारे।
दुःखार्त्त हि दिख रहे नर मेदिनी में,
शुद्धात्म में रम अतः, मन रागिनी में ।।६५।।

अर्थ– हे मित्र । जिनदास । इन्द्र स्वर्ग मे सुखी नहीं है वह खेचर–विद्याधर सुख से रहित है। ओर मनुष्य वेदना से पीडित है। अत तू अपने आप मे– शुद्धात्मस्वरूप मे निवास कर इन्द्रियो मे नहीं ।।६५।।

तप्त ! मनोभववसुना भव्य चिदनुभवसवेन भव वसुना।
तृप्तोऽलं भववसु ना स्यात् सुखीत्वा विद्भववसुना।।

भव्य ! मनोभववसुना तप्त ! चिदनुभवसवेन वसुना तृप्तः भव
भववसुना अलम् ना विद्भववसु इत्वा सुखी स्यात्।।

कामाग्नि से परम तप्त हुआ सदा से,
तू आत्म को कर सुतृप्त स्व की सुधा से ।
कोई प्रयोजन नहीं जड़ सम्पदा से,
पा बोध , हो नर ! सुखी अति शीघ्रता से।।६६।।

जडजेन माऽक्षरेण कुरु किन्तु सम्बन्धममाऽक्षरेण।
कलयतु विना क्षरेण न दवेन कुस्तप्ताऽक्ष ! रेण।।

जडजेन अक्षरेण सम्बन्ध मा कुरु, किन्तु हे अक्ष ! अक्षरेण अमा
(सम्बन्ध कुरु)। रेण दवेन तप्ता कु क्षरेण विना न कलयतु।

सम्बन्ध द्रव्य श्रुत से नहिं मात्र रक्खो,
रक्खो स्वभाव श्रुत से,निज स्वाद चक्खो ।
है मेदिनी तप गई रवि ताप से जो,
क्यों शॉत हो जल बिना, जल नाम से वो।।६७।।

अर्थ– हे आत्मन् ! पौद्गलिक अक्षररूप द्रव्यश्रुत से सम्बन्ध मत करो किन्तु अक्षर–ब्रम्हरूप आत्मा से सम्बन्ध करो अर्थात भावश्रुत से सम्बन्ध जोडो क्योकि तीक्ष्ण दावानल से सतप्तभूमि जल अथवा मेघ के बिना शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकती।

असद्भावभावो भावः पर्यायस्य न भावस्य च भावः।
त्रैकालिकस्तु भावः परमेष्ठिगतस्येति भावः।।

"पर्याय वो जनमती मिटती रही है।
त्रैकालिकी यह पदार्थ, यही सही है।"
श्री वीर देव जिन की यह मान्यता है,
पूजूं उसे विनय से यह साधुता है।।६८।।

यत्र रागाय वीचिर्मरीचेश्चेतसि चेन्मदो-वीचिः।
तत्र न चकास्तु वीचिः किं न स दुःखपूर्णोऽवीचि·।।

यत्र मरीचे चेतसि रागाय वीचि च मद वीचि (स्याता) चेत्,
तत्र वीचि न चकास्तु। स कि दु खपूर्ण अवीचि न ? (अस्त्येव)

संमोह राग मद है यदि भासमान,
या विद्यमान मुनि के मन में ऽभिमान।
आनन्द हो न उस जीवन में कदापि,
हा ! हा ! वही नरक कुण्ड बना ऽतिपापी ।।६६।।

अर्थ–मुनि के जिस हृदय मे राग के लिये अवकाश है ।तथा अल्प अथवा सन्ततिबद्ध अभिमान है, उसमे सुख सुशोभित नही हो सकता । ऐसा मुनि क्या दु खो से भरा हुआ नरक नहीं है ? अर्थात् नरक ही है।।।६६।।

यो भुवि मुनिलिङ्गमितस्तेनाप्यत इति को जिनवागमित.।
येन मदोत्तुंगमितश्चात्मा ह्यविनश्वरो गमितः।।

श्रद्धाभिभूत जिसने मुनि लिंग धारा,
कंदर्प को सहज से फिर मार डारा।
अत्यन्त शान्त निजको उसने निहारा,
औ अन्त में वल ज्वलन्त अनन्त धारा।।७०।।

तदस्त्यसुमतामहित-मकं ततो दूरीभव त्वमहितः।
यो प्राणिग्रामहितः स वदतीति मुनिसमितिमहितः।।

•

'तत् अकम् असुमताम् अहितम अस्ति। तत अहित त्वम् दूरीभव'
इति – य मुनिसमितिमहित प्राणिग्रामहित–स वदति।

"रे ! पाप ही अहित है, रिपु है तुम्हारा,
काला कराल अहि है, दुःख दे अपारा ।
हो दूर शीघ्र उससे, तब शान्ति धारा,"
ऐसा कहें जिनप जो जग का सहारा ।।७१।।

अर्थ – 'वह पाप प्राणियो का अहितकारी–शत्रु है–सर्परूप उस पाप से तू दूर रह ऐसा मुनियो के समूह से पूजित और प्राणिसमूह के लिये हितकारी जिनेन्द्र कहते है।।७१।।

स मुदमेति वासन्तः समुत्सवो वने यदा वासन्तः।
नेत्वा निजवासवन्त आशु श शिष्या वा सन्तः।।

ले रम्य दृश्य ऋतुराज वसन्त आता,
ज्यों देख कोकिल उसे मन मोद पाता।
हे वीर ! त्यों तव सुशिष्य खुशी मनाता,
शुद्धात्म को निरख आ' दुःख भूल जाता।।७२।।

कुधीः सुखी नाके न ततो युतो भव केन नो नाऽकेन।
दुःखिनो विना के न दृशा किं नरकेण नाकेन।।

हे न ! नाके कुधी सुखी न तत केन युत भव, अकेन युत न भव। (अत)
नरकेण (च) नाकेन च किम् ? दृशा विना के (जना) दु खिन न ?।

होता कुधी, वह सुखी दिवि में नहीं है,
तू आत्म में रह, अतः सुख तो वही है।
क्या नाक से, नरक से ? इक सार माया,
सम्यक्त्व के बिन सदा ! दुःख ही उठाया।।७३।।

अर्थ–हे मनुज ! स्वर्ग मे अज्ञानी–मिथ्यादृष्टि जीव सुखी नहीं है। अत तू क–आत्मा से युक्त हो, अक–पाप से युक्त मत हो। इसलिये नरक और स्वर्ग से क्या ? सम्यग्दर्शन के बिना कौन मनुष्य दु खी नही है ? ।।७३।।

प्रतापी ह्यपि रोहित. पवनपथि यथा पयोदतिरोहितः।
आत्माप्याहः रोहित. कर्मरजरोति नृवरो हित.।

ज्योत्स्ना लिये, तपन यद्यपि है प्रतापी,
छा जाय बादल, तिरोहित हो तथापि।
आत्मा अनन्त द्युति लेकर जी रहा है,
हो कर्म से अवश, कुन्दित हो रहा है ॥७४॥

नो सुखं सदाशातो जन्माप्राक्तो रवेः कदाऽऽशातः?
तथापि निजदाशातो दूरोऽतो ऽज्ञः सदा शातः?

अशात सत् सुख न। अप्राकृत आशात रव जन्म कदा (भवति)?
तथापि निजदाशात अज्ञ सदा दूर (वसति), अत शात (भवति)।

कैसे मिले ? नहिं मिले सुख मॉगने से,
कैसे उगे अरुण पश्चिम की दिशा से ?
तो भी सुदूर वह मूढ निजी दशा से,
होता अशान्त अति पीडित ही तृषा से ।।७५।।

अर्थ–आशा – तृष्णा से समीचीन सुख नहीं होता। पूर्वेतर – पश्चिमादि दिशा से सूर्य का उदय कब होता है? फिर भी अज्ञानी मनुष्य निज दशा से दूर रहता है इसीलिये वह सदा अशात – सुखरहित अर्थात् दु खी रहता है। ।।७५।।

स्वे वस सुदाऽस्मायते ! निजानुभवं कुरु चिन्तां माऽऽयते।
नास्तु हीहानाय ते श्रयसुररि भयमेहि माऽऽयतेः।।

लिप्सा कभी विषय की मन में न लाओ,
चारित्र धारण करो, पर में न जाओ।
चिन्ता कदापि न अनागत की करोगे,
विश्राम स्वीय घर में चिरकाल लोगे ।।३८।।

क्षारतः ससारतः पारावारतो दुःखमसारतः।
निजे भवाञ्जसारतः सुखं सत् स्यात् स्वतः सारतः।।

असारत क्षारत पारावारत ससारत दुख (हि प्राप्यते)।
अत निजे अञ्जसा रत भव। स्वत सारत सत् सुख स्यात्।

ससार सागर असार अपार खारा,
है दुःख ही, सुख जहां न मिले लगारा।
तो आत्म में रत रहो, सुख चाहते जो,
है सौख्य तो सहज में, नहिं जानते हो ? ।।७७।।

अर्थ–सारहीन खारे, सागरस्वरूप ससार से दु ख ही प्राप्त होता है। इसलिये निजस्वरूप मे यथार्थत लीन हो, सारभूत निज से सच्चा सुख होता है ।।७७।।

न हि कैवल्यसाधनं केवलं यथाजात - प्रसाधनम्।
चेन्न, पशुरपि साधनं व्रजेदव्ययमज्जरा धनम्।।

'कैवल्य-साधन न केवल नग्न-भेष,"
त्रैलोक्य वन्द्य इस भांति कहें जिनेश।
इत्थम् न हो, पशु दिगम्बर क्या न होते?
होते सुखी ? दुखित क्यों दिन रात रोते? ।।७८।।

स्वीयतो भुवि भावत. शिवं भवेद् भववृद्धिर्विभावत·।
विरतो भव विभावत इति वाग्धि विवेकविभावतः।।

'स्वीयत भावत भुवि शिव भवेत् भववृद्धि विभावत (भवेत्)
अत विभौ विरत भव इति हि विवेकविभावत वाग्।

''संसार की सतत वृद्धि विभाव से है,
तो मोक्ष सम्भव स्वतन्त्र स्वभाव से है।
हो जा अतः अभय, हो विभु में विलीन,''
हैं केवली-वचन ये - ''बन जा प्रवीण''।।७६।।

अर्थ–'स्वकीय स्वभाव से पृथिवी पर शिव – कल्याण अथवा मोक्ष होता है और विभाव–रागादि परिणाम से ससार की वृद्धि होती है। अत हे श्रमण। तू वीतराग सर्वज्ञ प्रभु मे विलीन हो जा ऐसी विवेकविभावान्–केवलज्ञान की प्रभा से युक्त जिनेन्द्र की वाणी है।।७६।।

चरणमुकुट-शिररि त आगवतो न सुदृगरितमणिररिता।
धृतोऽत्तो यो न ररित - गोचर. कोऽरा गुचिररिता ।।

राम्यवत्व नीलम गया जिसमें जड़ाया,
चारित्र का मुकुट ना सिर पे चढ़ाया।
तू ने तभी परम आतम को न पाया,
पाया अनन्त दु:ख ही, सुख को न पाया।।८०।।

यस्त्रियोगैरञ्जनं रागमयं विहाय जगद्-रञ्जनम्।
भजति जिनं निरञ्जनं तमेति मुक्तिःसाऽरं जनम्।।

य त्रियोगै रागमयम अञ्जन विहाय जगद्ञ्जन निरञ्जन जिन भजति
त जन सा मुक्ति अरम् एति।

जो काय से वचन से मन से सुचारे,
पा बोध, राग मल धोकर शीघ्र डारे।
ध्याता निरन्तर निरंजन जैन को है,
पाता वही नियम से सुख चैन को है।।८१।।

अर्थ–जो मन–वचन–काय से रागरूप काजल को छोडकर जगत् को आनन्द देने वाले कर्मकालिमा से रहित जिनेन्द्र की सेवा करता है, उस पुरुष को वह मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होती है।।८१।।

त्यजेत्वा सङ्गमेन आस्वलगमेन च दुःसङ्गमेन।
भज नगराङ्गमेनमनात्मनि विश्वासं गमे न॥

दुस्संग से प्रथम जीवन शीघ्र मोड़ो,
तो संग को समझ पाप तथैव छोड़ो।
विश्वास भी कुपथ में न कदापि लाओ,
शुद्धात्म को विनय से तुम शीघ्र पाओ॥८२॥

तथा जितेन्द्रियोऽङ्गतो निस्पृहोऽभवं योगी च योगतः।
पक्वपर्णोपचयोऽगतो यथा पतन् मा चल योगतः।।

य जितेन्द्रिय योगी अभवगत अङ्गत च तथा नि स्पृह यथा
अगत पतन् पक्वपर्णपचय (निस्पृहो भवति) अत योगत मा चल।

पत्ता पका गिर गया तरु से यथा है,
योगी निरीह तन से रहता तथा है।
औ ब्रह्म को हृदय में उसने बिठाया,
तू क्यों उसे विनय से स्मृति मे न लाया?।।८३।।

अर्थ–जो जितेद्रिय साधु अभव–ससाराभाव को प्राप्त हुआ है वह शरीर से उस प्रकार निस्पृह रहता है, जिस प्रकार वृक्ष से पडता हुआ सूखे पत्तो का समूह। अत हे योगिन्! तू (शारीरिक उत्पात आने पर) योग से विचलित न हो।।८३।।

यो धत्ते सुदृशा सामं मुनिर्वाङ्मनोभ्यां च वपुषा सामम्।
विपश्यति सहसा स मे ह्यनन्तविषयं न तृणा सामम्॥

वाणी, शरीर, मन को जिसने सुधारा,
सानन्द सेवन करे समता-सुधारा।
धर्माश्रित मुनि है या भव्य जीव,
सुज्ञान में निरत है रहता सदैव॥९४॥

करणकु ञ्जरंकन्दरं स्वरससेवन - संसेवित - कन्दरम्।
त्वा स्तुवे मे ऽकं दरं कलय गुरो ! दृक्कृषिकंद ! रम्।।

(हे) गुरो ! दृक्कृषिकन्द ! स्वरससेवन – ससेवितकन्दर
करणकुञ्जरकन्दर त्वा स्तुवे। मे अक दर कलय।

जो साधु जीत इन इन्द्रिय-हाथियों को,
आत्मार्थ जा, वन बसें, तज ग्रन्थियों को।
पूजूं उन्हें सतत वे मुझको जिलावें,
पानी सदा दृगमयी कृषि को पिलावें।।८५।।

अर्थ–'हे गुरो ! हे सम्यक्त्वरूपी खेती को जल देने वाले ! जो इन्द्रियरूपी हाथियो को वश करने के लिये अकुश है तथा आत्मानुभव का सेवन करने के लिये जो कन्दराओ – गुफाओ गे निवास करते है ऐसे आपकी मे स्तुति करता हूँ आप मेरे तीव्र दु ख को लघु – हल्का कर दे।।८५।।

ननु निश्चयो यो नय शिवदो न वन्द्यो न न च नयोऽनय·।
नम. पयोजयोनय आशु नाश्यन्ते कुयोनयः।।

ननु य निश्चय नय (स) शिवद न वन्द्य (च) न
नय अनय च न। पयोजयोनये नम (यस्मात्) कुयोनय आशु नाश्यन्ते।

ना वन्द्य है, न नय निश्चय मोक्ष-दाता,
ना है शुभाशुभ, नहीं दुःख को मिटाता।
मैं तो नमूं इसलिए मम ब्रह्म को ही,
सद्यः टले दुःख मिले सुख और बोधि।।८७।।

अर्थ–परमार्थ से जो निश्चयनय है वह मोक्ष को देने वाला नहीं है इसलिये वन्दनीय भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय मात्र मोक्षपथ का प्रदर्शक हे मोक्षप्रदायक नहीं मोक्ष के लिये पुरूषार्थ आत्मा को ही करना होता है। निश्चयनय मोक्ष का देने वाला नहीं है तथा वन्दनीय भी नहीं है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नय व्यर्थ है। प्रारम्भिक दशा मे नय अनय नहीं हे कल्याणकारी विधि से रहित नही हे अत सार्थक है। अथवा मै नय और कुनय के पक्ष मे न पडकर पद्मयोनि – ब्रह्मस्वरूप आत्मा को नमस्कार करता हूँ जिससे सब नरकादि कुयोनियाँ नष्ट होती है।।८७।।

निजस्य गतमदा नवः समावहन्तस्तं समं दानवः।
क एति कामदा नवस्तानाह नुतयमदानवः।।

'(ये) गतमदा निजस्य नव त सम समावहन्त दानव तान् कामदा
नव क एति" – इति नुतयमदानव आह।

"गम्भीर-धीर यति जो मद ना धरेंगे,
औ भाव-पूर्ण स्तुति भी निज की करेंगे।
वे शीघ्र मुक्ति ललना वर के रहेंगे,"
ऐसा जिनेश कहते - 'सुख को गहेंगे'।।८६।।

अर्थ–जो निरभिमान हो निज शुद्धात्मा की स्तुति करते है तथा उसी को सदा साथ धारण करते है वे वीर है। उन वीरो को मनोरथो का पूरक नूतन प्रकाश (केवलज्ञान) प्राप्त होता है–ऐसा सुर–असुरो से स्तुतजिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।।८६।।

दृशा विना चरणस्य भार वहता च मदं च चरणस्य।
नुमञ्चताऽऽचरणस्य नाप्तिर्नुतनृनभश्चर ! णस्य।।

(हे) नुतनृनभश्चर ! दृशा विना चरणस्य भार चरणस्य मद च वहता,
आचरणस्य नुम् अञ्चता णस्य आप्ति न (भवतीति)।

जो 'वीर' के चरण मे नमता रहा है,
चारित्र का वहन भी करता रहा है।
औ गोत्र का, दृग बिना, मद ढो रहा है।
विज्ञान को न गहता, जड सो रहा है।।६१।

अर्थ–हे ! मनुष्य एव विद्याधरो से स्तुत जिनदेव ! जो सम्यग्दर्शन के विना चारित्र का भार ढोता है, उस चारित्र से अपने उच्चगोत्र का गर्व करता है और स्वकीय आचरण की स्तुति – प्रशसा करता है वह मनुष्य निर्णय अथवा ज्ञान को प्राप्त नहीं होता।।६१।।

सतः समयसारसतः सन्त्वलयोऽदूराः सहसा रसतः।
पराऩ्न दृक्साऽरसतः स्वतः सुधा स्रवति सारसतः।।

सत अलय समयसारसत अदूरा सन्तु, रसत (च) सहसा (दूरा) (सन्तु)।
सा दृक् परात न (लभ्यते)। अरसत स्वत सारसत (सा दृक) सुधा स्रवति।

जो सन्त हैं समय-सार सरोज का वे,
आस्वाद ले भ्रमर-से पर में न जावें।
सम्यक्त्व हो न पर से, निज आत्म से ही,
भाई ! सुधा-रस झरे शशि-बिम्ब से ही।।६३।।

अर्थ– भ्रमर (गुणग्राहीजन) समीचीन, सगय–आत्मारुपी सारस कमल से अदूर रहे– निकटस्थ रहे और रस – शरीर से दूर रहे। वह सम्यग्दर्शन पर से नहीं प्राप्त होता रस – पौद्गलिक गुण से रहित स्वत स्वकीय आत्मा से प्राप्त होता है। जैसे कि सुधा – अमृत सारस – चन्द्रमा से झरती है, अन्य पाषाणादि से नहीं।।६३।।

यते सन्मतेऽमल ! य ऋषयस्तत्पद्पमयुग्ममलयः।
भजन्ति गतो यो मलय· समदृष्टि कृतमदाऽमलयः।।

यते । सन्मते । अमल । कृतमदाऽमलय य मलय समदृष्टि गत
तत् पदपद्मयुग्म ये ऋषय अलय भजन्ति।

साधु सुधार समता, ममता निवार,
जो है सदैव शिव में करता बिहार।
तो अन्य साधु तक भी उसके पदों में,
होते सुलीन अलि-से, फिर क्या पदों में?।।।६५।।

अर्थ–हे यते । हे सन्मते । हे अमल । जिसने मद–गर्वरूपी रोग का नाश कर दिया है जो विश्वरुप आत्मा मे लीन है एव समदृष्टि को प्राप्त है उसके चरणकमलयुगल को ऋषिरूपी भ्रमर भजते है–नमन करते हैं ।।६५।।

किं जितानङ्ग ! ते न ! मते मतं मतं वितानं गतेन।
श्रीरिता नं गतेन नेति कमभजताऽनङ्ग ! तेन।।

जितानङ्ग ! अनङ्ग ! न ! न गतेन तेन कम् अभजता
श्री न इता मत वितान गते ते मते किम् इति न मतम् ?

"सानन्द यद्यपि सदा जिन नाम लेते,
योगी तथापि न निजातम देख लेते।
तो वे उन्हें शिवरमा मिलती नहीं है,"
तेरा जिनेश ! मत ईदृश क्या नहीं है ? ।।६७।।

अर्थ– हे मदनविजयी ! हे अशरीर ! (शरीर सम्बनृधी राग से रहित) हे जिन ! जिनदेव को प्राप्त होकर भी जो आत्मा की आराधना नहीं करता है–आत्मा के ज्ञायक स्वभाव की ओर दृष्टि नही देता है उसे केवलज्ञानरूप लक्ष्मी प्राप्त नही होती । इस प्रकार समादृत विरतारको प्राप्त हुए आपके मत मे क्या नहीं माना गया है? ।।६७।।

न मनोऽन्यत् सदा नय दृशा सह तत्वसप्तकं सदानय ।
यदि न त्रासदाऽनयः पन्थास्ते स्वरसदा न यः।।

मन सदा अन्यत् न नय । सत् तत्वसप्तक दृशा सह आनय ।
यदि (एव) न, (तर्हि) ते य पन्था (स) त्रासदा अनय स्वरसदा (अपि) न ।

तू चाहता विषय में मन ना भुलाना,
तो सात तत्व-अनुचिन्तन में लगा ना !
ऐसा न हो, कुपथ से सुख क्यों मिलेगा ?
आत्मानुभूति झरना फिर क्यों झरेगा ? ।।६६।।

अर्थ– हे श्रमण ! मन सदा अन्यत्र न ले जा, सम्यग्दर्शन के साथ श्रेष्ठ साततत्वो मे ला । यदि ऐसा नहीं करता है तो मेरा मार्ग दु खदायक तथा कल्याणकारक विधि से रहित होगा एव आत्मानुभव को देने वाला नहीं होगा ।।६६।।

वै विषमयीमविद्यां विहाय 'ज्ञानसागरजां' विद्याम् ।
सुधामेम्यात्मविद्या नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ।

आत्मवित् (अहम्) वै विषमयीम् अविद्या विहास ज्ञानसागरजा सुधा विद्याम एमि।
सुकृतजा या कृतजा या द्या भुवि न इच्छामि ।

चाहूं कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी !
पीउँ सुधा रस निजीय, बनूँ न कामी।
पा 'ज्ञानसागर' सुमन्थन से सुविद्या,
'विद्यादिसागर' बनूँ, तज दूँ अविद्या।।१०१।।

अर्थ– मै आत्मज्ञ निश्चय से विषमयी अविद्या को छोडकर ज्ञानरूप सागर मे उत्पन्न गुरू ज्ञानसागर जी से प्राप्त आत्मविद्या को प्राप्त होता हूँ। पुण्य से प्राप्त होने वाला जो द्यौ – स्वर्ग है उसे नहीं चाहता हू।।१०१।।

मंगल कामना

निरंजन - शतकम्

सविनयं ह्यभिनम्य निरंजनम्, नतिमितं नृसुरैर्मुनिरंजनम्।
भवलयाय करोमि समासतः, स्तुतिमिमां च मुदात्र समा सतः।।

अत्र मुनिरजनम नृसुरै नतिम् इतम् निरजनम् सविनयम् हि (अह) अभिनम्य
मुदा समा सत (निरजनस्य) इमा स्तुतिम् च समासत भवलयाय करोमि।

सन्तों नमस्कृत सुरो बुध मानवो से,
ये हैं जिनेश्वर नमूं मन वाक्तनो से।
पश्चात् करूँ स्तुति निरंजन की निराली,
मेरा प्रयोजन यही कि मिटे भवाली।।१।।

अर्थ– इस जगत मे (मैं विद्यासागर) मनुष्यों और देवों के द्वारा स्तुत तथा मुनियो को प्रमुदित करने वाले कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमात्मा को विनयपूर्वक नमस्कार कर अपना ससार–परिभ्रमण नष्ट करने के लिए हर्ष सहित उन निरञ्जन – जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी की सक्षेप से इस स्तुति को करता हू।।१।।

परपद ह्यपद विपदास्पदं, निजपद नि पदं च निरापदम्।
इति जगाद जनाब्जरविर्भवान्, ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान्।।

विपदास्पदम अपदम हि परपदम्। निरापदम् निजपदम नि (निश्चयेन) पदम च।
इति स्वभवान् भववैभवान हि अनुभवन् जनाब्जरविर्भवान जगाद।

सच्चा निजी पद निरापद सम्पदा है,
तो दूसरा पद घृणास्पद आपदा है।
हे ! भव्यकजरवि ! यों तुमने बताया,
शुद्धात्म से प्रभव वैभवभाव पाया।।३।।

अर्थ – निश्चयत आत्मस्वभाव से भिन्न – अन्यपद विपदाओ के स्थान हैं अतएव अपद–अरक्षक हैं और आत्मस्वभावरूप निजपद विपदाओं से रहित तथा आत्मरमण का स्थान है। परमार्थ से स्वोत्पन्न सासारिक वैभवो का अनुभव करते तथा जनरूपी कमलो को विकसित – प्रफुल्लित करने के लिये सूर्यस्वरूप आपने ऐसा स्पष्ट कहा है।।३।।

यदसि सत्यशिवोऽसि सदा हित , तव मदो महसा हि स दाहित ।
गतगति. सगतिर्गतसमति', मम मते सुगतिर्भुवि सन्मतिः।।

हे विभो ! तव महसा हि स मद दाहित यत् सत्यशिव असि। (अत) भुवि सदा हित असि।
गतगति सगति गतसमति सन्मति (अपि असि) (तत) मम मते सुगति (त्वमेव असि)।

सत् तेज से मदन को तुमने जलाया,
अन्वर्थ नाम फलरूप "महेश" पाया।
नीराग हो अमति सन्मति विज्ञ प्यारे,
स्वामी मदीय मन को तुम ही सहारे।।५।।

अर्थ – यतश्च आपके तेज के द्वारा वह गद–गर्व अथवा मदन दग्धकर दिया गया। अत तुम्हीं सत्यशिवरूप हो और तुम्हीं सदा हितरूप हो यतश्च आप गतगति चतुर्गति रूप परिभ्रमण से रहित हो सगति – मोक्षरूप गति से सहित और गतसमति समीचीन मति से सहित हैं।।५।।

अधिपतौ निजचिद्विमलक्षितेः, व्यय-भव-ध्रुव-लक्षण-लक्षिते।
मयि निरामयकः सहसा गरेऽवतरतीव शशी किल सागरे।।

निजचिद् विमलक्षिते अधिपतौ व्ययभवध्रुव लक्षणलक्षितो मयि गरे निरामयक
भवान किल सहसा सागरे शशी इव अवतरति ।

उत्पाद धौव्य व्यय भाव सुधारता हूँ,
चैतन्यरूप वसुधातल पालता हूँ।
पाते प्रवेश मुझमें तुम हो इसी से,
स्वामी ! यहाँ अमित सागर में शशी से ।।७।।

अर्थ – जो स्वकीय चेतनारूपी निर्मलभूमि का स्वामी है तथा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप लक्षण से सहित है ऐसे मुझमें विष के बीच नीरोग रहने वाले आप समुद्र मे चन्द्रमा के समान सहसा अवतीर्ण हुए हैं।।७।।

निगदितु महिमा ननु पार्यते, सुगत ! केन मनो ! मुनिपार्य ! ते।
वदति विश्वनुता भुवि शारदा, गणधरा अपि तत्र विशारदाः।।

हे आर्य ! मुनिप ! मनो ! ते महिमा ननु केन निगदितु पार्यते (इति) भुवि विश्वनुता
शारदा वदति तत्र विशारदा गणधरा अपि (वदन्ति)।

हे ! शुद्ध ! बुद्ध ! मुनिपालक ! बोधधारी !
है कौन सक्षम कहे महिमा तुम्हारी?
ऐसा स्वय कह रही तुम भारती है,
शास्त्रज्ञ पूज्य गणनायक भी व्रती हैं।।६।।

अर्थ – हे बुद्ध ! हे मनुरूप ! हे मुनिपालक–मुनिश्रेष्ठ ! हे आर्य ! हे पूज्य ! निश्चय से आपकी महिमा किसके द्वारा कही जा सकती है? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं। पृथिवी पर सब के द्वारा स्तुत सरस्वती ऐसा कहती है और स्तुतिविद्या मे निपुण गणधर भी ऐसा ही कहते हैं।।६।।

जिनपदौ शरणौ त्वपि कौ कलौ, कमलकोमलकौ विमलौ कलौ।
जनजलोद्भवरात्र्यहितौ हितौ, मयि मयाद्य हितौ महितौ हि तौ।।

हे (जिन !) तौ जनजलोद्भव–रात्र्यहितौ विमलौ कलौ कमलकोमलकौ मया
महितौ हि मयि हितो अद्य अपि कौ कलौ जिनपदौ शरणौ (इति आनन्दसूचिका)।

श्रीपाद ये कमल-कोमल लोक में है,
ये ही यहाँ शरण पंचम काल में है।
है भव्य कज खिलता, इन दर्श पाता,
पूजूँ अत· हृदय में इन को बिठाता।।११।।

अर्थ – हे जिन ! जो भव्यजनरूपी कमलो को विकसित करने के लिये सूर्य स्वरूप हैं कमल के समान कोमल हैं निर्मल हैं मनोहर हैं हितकारी हैं और मेरे द्वारा पूजित होकर अपने हृदय मे विराजमान किये गये हैं ऐसे जिनेन्द्रचरण ही पचमकाल मे पृथिवी पर परमार्थ से शरणभूत हैं – रक्षक हैं।।११।।

जिनगतस्त्वयि योऽपि मुदालयं, स्वमयते सह स स्वविदालयम्।
गुणकुलैरतुलैर्ननु संकुलम्, कलकलं विकलय्य भृशं कुलम्।।

रे अयि जिन ! त्वयि यो मुदा लयम् गता ननु स स्वविदा सह कुलम् भृशम्
विकलय्य अतुलै गुणकुलै सकुलम् कलकलम् स्वम् आलयम् अयते।

आनन्द भव्य तुम में लवलीन होता
पाता स्वधाम सुख का, गुणधाम होता।
औ देह त्याग कर आत्मिक वीर्य पाता,
संसार में फिर कभी नहिं लौट आता।।१३।।

अर्थ – हे जिन ! जो भी पुरुष हर्ष से आप में लीनता को प्राप्त होता है वह आत्मज्ञान के साथ शरीर को अत्यन्त पृथक कर अनुपम गुणसमूहो से व्याप्त एव मनोहर कलाओ से युक्त स्वकीय गृह को प्राप्त होता है।।१३।।

अयशसां रजसां वपुषाकरः, तव जितो महसा स निशाकरः।
जिन!रतोऽत्र ततोऽप्यमहानये, नखमिषेण पदे ह्यघहानये।।

अये ! जिन ! अयशसा रजसा वपुषा आकर स निशाकर तव महसा जित तत (स) अमहा (तव) पदे अत्र नखमिषेण हि अघहानये रत।

लो ! आपके सुभग-सौम्य-शरीर द्वारा
दोषी शशी अयशधाम नितान्त हारा।
वो आपके चरण की नख के बहाने,
सेवा तभी कर रहा यश कान्ति पाने।।१५।।

अर्थ – हे जिनदेव ! वह चन्द्रमा जो कि शरीर के द्वारा अपयशरूपी मलिन धूलि की खान हो रहा है आपके तेज से पराजित हो अमहान् – तुच्छ बन गया इसीलिये वह इस जगत में पापो को नष्ट करने के लिये नखो के बहाने (सपरिवार) आपके चरणो मे आ पडा है।।१५।।

सति तिरस्कृतभास्करलोहिते, महसि ते जिन ! वि.सकलो हिते।
अणुरिवात्र विभो ! किमु देव ! न ! वियति भं प्रतिभाति तदेव न।।

हे जिन ! देव ! विभो ! न ! ते अत्र तिरस्कृतभास्करलोहिते हिते सति महसि सकल वि अणु इव प्रतिभाति भ तदेव वियति (अणु इव) किमु न प्रतिभाति?)।

नक्षत्र है गगन के इक कोन में ज्यों,
आकाश है दिख रहा तुम बोध में त्यों।
ऐसी अलौकिक विभा तुम ज्ञान की है,
मन्दातिमन्द पडती द्युति भानु की है।।१६।।

अर्थ – हे जिनदेव ! हे विभो ! हे पूज्य ! इस पृथिवी पर सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करने वाले आपके केवलज्ञानरूप तेज मे सम्पूर्ण आकाश अणु के समान प्रतिभासित होता है। ठीक ही है क्योंकि अनन्त आकाश मे एक नक्षत्र क्या अणु के समान नहीं जान पडता?।।१६।।

सुखमजं न भजन्नपि दीदिवि,- र्भजति तावदहोऽतनुधीर्दिवि।
मुनिरयं तनुधीरपि रागत,- स्त्वयि च यावदके गतरागतः।।

(हे जिन !) दिवि अतनुधी दीदिवि अज (त्वाम) भजन अपि अहो तावत सुखम् न भजते। त्वयि रागत तनुधी अपि अयम मुनि (ग्रन्थकर्ता) अके गतरागत च यावत ! (सुखम्) भजति।

मै रागत्याग तुझमें अनुराग लाके,
होता सुखी कि जितना लघु ज्ञान पाके।
तेरी बृहस्पति सुभक्ति करें, तथापि,
हो स्वर्ग में नहिं सुखी उतना कदापि ।।२१।।

अर्थ–हे जिनेन्द्र ! स्वर्ग में आपकी आराधना करने वाला विशाल बुद्धि का धारक बृहस्पति उतने सुख को प्राप्त नहीं होता जितने सुख को पर वस्तुओ मे राग रहित मुनि अल्पबुद्धि होकर भी आप मे राग होने तथा अक–अनात्म पदार्थ मे रागरहित हाने से प्राप्त होता है।।२१।।

अंसि शशी सितशीतसुधाकरैः, स्वगतशुद्धगुणैश्च सदा करैः।
यदि न दृक्सलिलं समभावि भो ! मम मनोमणितो न झरेद्विभो । ।।

भो । विभो । (त्वम्) सितशीतसुधाकरै स्वगतशुद्धगुणै करै च सदा शशी असि ।
यदि न (असि तर्हि) मम मनोमणित समभावि दृक्सलिल न झरेत।

मानूँ तुम्हें तुम शशी तम में भरी हैं,
सच्ची सुधा गुणमयी मन को हरी है।
ऐसा न हो, मम मनोमणि से भला यों,
सम्यक्त्वरूप झरना, झर है रहा क्यों ?।।२३।।

अर्थ-हे विभो ! आप उज्ज्वल-शान्तिदायी सुधा के खान स्वकीय शुद्धगुणरूप किरणों से सदा चद्रमारूप हैं। यदि ऐसा नहीं है तो मेरे मनरूपी चद्रकान्तमणि से तत्काल सम्यग्दर्शनरूप जल न झरता।

असि शुचिश्च शशीव सुकेवली, गमित इत्यपि नो कुधियाऽबली।
असित एव शशी कुदृशा सित, सदय ! यद्यपि यः सुदृशा शित.।।

हे सदय ! शशी इव शुचि सुकेवली च असि (तथापि) कुधिया अपि नो इति गमित (किन्तु) अबली (गमित) यद्यपि य शशी सुदृशा शित (ज्ञात) (तथापि) कुदृशा असित एव सित।

हो केवली तुम बली शुचि शान्त शाला,
ऐसा तुम्हे कब लखे अघ दृष्टि वाला।
हो पीलिया नयन रोग जिसे हमेशा,
पीला शशी नियम से दिखता जिनेशा !।।२५।।

अर्थ–हे कृपालु जिनेन्द्र ! यद्यपि आप चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और उत्तम केवलज्ञान से युक्त हैं तथापि कुबुद्धिजन आपको वैसा नहीं मानते। वह आपको अबली–बलहीन मानते हैं। उचित ही है क्योंकि विकृत नेत्रवाला–पीलिया रोगवाला मनुष्य चन्द्रमा को असित–पीला जानता है परन्तु निर्विकार नेत्रवाला मनुष्य चन्द्रमा को सित–शुक्ल ही जानता है।।२५।।

सति हृदि त्वयि मेऽत्र विरागता, समुदिता गुणतामितरा गता।
पयसि चेत् सुमणौ न पयोऽङ्ग ! त,-दरुणतां किमु याति नियोगतः।।

हे विभो ! अत्र मे हृदि त्वयि सति विरागता समुदिता इतरा (रागता) गुणता (इता) गता।
चेत् सुमणौ पयसि (तदा) तत् पय अरुणताम किमु नियोगत न याति(यात्येव)।

स्वामी ! निवास करते मुझमें सुजागा,
आत्मानुराग फलतः पर राग भागा।
लो दूध में जब कि माणिक ही गिरेगा,
क्या लाल लाल तब दूध नहीं बनेगा?।।२७।।

अर्थ—मेरे इस हृदय मे आपके विद्यमान रहते हुये विरागता—वीतरागता प्रकट रहती है इससे भिन्न सरागता—अप्रधानता को प्राप्त हो नष्ट हो जाती है। ठीक ही है यदि दूध मे पद्मरागमणि रहता है तो वह दूध क्या नियम से लालिमा को प्राप्त नहीं हो जाता? अवश्य हो जाता है।।२७।।

अनुदिन त्वयि यो रमतेऽञ्जसा, भवित ते स समः समतेजसा।
वपुरदोऽपि जडं परमं। भवेन्ननु तदा चिदियं न भवेद् भवे।।

हे भगवन ! त्वयि य अनुदिन रमते स अजसा समतेजसा (साक) ते सम भवति।
भवे अद जड अपि वपु परम। भवेत् (तदा) इय चितननु न भवेत् (भवेदित्यर्थ)।

श्रद्धा समेत तुम में रममान होता,
वो ओज तेज तुम सा स्वयमेव ढोता।
काया हि कंचन बने कि अचेतना हो,
आश्चर्य क्या ? द्युतिमयी यदि चेतना हो।।२६।।

अर्थ–हे भगवन ! जो मनुष्य प्रतिदिन आप में रमण करता है– आपके ध्यान मे लीन रहता है वह अनन्तचतुष्टरूप लक्ष्मी से युक्त तेज से आपके समान हो जाता है। उचित ही है कि जब वह अचेतन शरीर भी आपके सम्पर्क से परम–श्रेष्ठ परमौदारिक बन जाता है तब यह ज्ञानदर्शन सम्पन्न जीव क्या आपके समान नहीं हो सकेगा? अवश्य हो सकेगा।।२६।।

नहि रुचिस्तव तां प्रति कांचनप्रकृतभूतिमितोऽपि च काचन।
गणधरैःशमिनस्तव गीयते, न गरिमा ममका तनुगीर्यते !।।

हे यते ! काचन प्रकृत भूतिम् इत अपि तव ताम् प्रति काचन रुचि नहि (अस्ति)।
तव शमिन गरिमा गणधरै (अपि) न गीयते (तदा) मम तनुगी का।

छत्रादि स्वर्णमय वैभव पा लिए हो,
स्वामी ! न किन्तु उनसे चिपके हुए हो।
तेरी अपूर्व गरिमा गणनायकों से,
जाती कही न फिर क्या ? हम बालकों से।।३१।।

अर्थ– हे मुनीन्द्र ! स्वर्णनिर्मित छत्रत्रयादि वैभव को प्राप्त होने पर भी आपकी उस ओर रुचि–प्रीति नहीं है तथा अत्यन्त शान्त रहने वाले आपकी गरिमा–महिमा गणधरो द्वारा भी जब नहीं गायी जाती है तब मेरी अल्पवाणी क्या है? कुछ नहीं।।३१।

मुदमुपैमि मुनिर्मुनिभावतो, मुखमुदीक्ष्य विभो ! सुविभावतः।
जलभृतं जलदं जलदाध्वनि किल शिखीव गत सुगुरुध्वनिम्।।

हे गुरो ! विभा ! जलदाध्वनि सुगुरुध्वनिम् गतम जलभृतम् किल शिखी
इव उदीक्ष्य सुविभावत मुखम् (अहम !) मुनि मुनिभावत (उदीक्ष्य) मुदम् उपैमि।

देखा विभामय विभो मुख आपका है,
ऐसा मुझे सुख मिला नहिं नाप का है।
जैसा यहाँ गरजता लख मेघ को है,
पाता मयूर सुख भूलत खेद को है।।३३।।

अर्थ–हे विभो ! आकाश में गरजते जलभरे मेघ को देखकर जिस प्रकार मयूर प्रमोद को प्राप्त होता है उसी प्रकार स्तुति करने वाला मैं, मुनि जैसे पवित्रभाव से उत्तमदीप्ति से युक्त आपका मुख देखकर प्रमोद को प्राप्त हो रहा हूँ।।३३।।

लसति भानुरयं जिनदास ! खे, नयति तापमिदं च सदा सखे !
जितरविर्महसा सुखहेतुकम्, उरसि मेऽस्ति तथात्र न हेतुकम्।।

हे सखे ! जिन दास ! खे अय भानु लसति सदा तापम् इदम (जगति च) नयति। (किन्तु) अत्र मे उरसि महसाजितरवि सुखहेतुक अस्ति। तथा तुकम् (मा बालम्) (तापम्)न नयति।

आकाश में उदित हो रवि विश्वतापी,
संतप्त त्रस्त करता जग को प्रतापी।
पै आप कोटि रवि तेज स्वभाव पाये,
बैठे मदीय उर में न मुझे जलाये।।३५।।

अर्थ–हे मित्र ! हे जिनसेवक ! आकाश में जो यह सूर्य सुशोभित हो रहा है वह इस जगत् को सताप प्राप्त कराता है। परन्तु तेज से सूर्य को जीतने वाले जिनेन्द्र सुख के हेतु हो मेरे इस हृदय में विद्यमान हैं फिर भी सूर्यसदृश आप मुझ बालक को सताप नहीं करते।

सरसि ते स्तवने मम साधुता, शुचिमिता स्नपिता सहसा धुता।
भुवि विभो ! यदिद मम चेतन, स्तवनभाग्घि सतां द्युतिकेतनम्।।

हे विभो । ते रतवने सरसि मम साधुता शुचिम् इता स्नपिता सहसा धुता (च)
भुवि यत् (यस्मात्) इदम् मम चेतनम् द्युतिकेतनम् सताम् स्तवनभाक् हि (भूत)।

जो आपकी स्तुति सरोवर में घुली है,
मेरी खरी श्रमणता शुचि हो धुली है।
तो साधु स्तुत्य मम क्यों न सुचेतना हो ?
औ शीघ्र क्यों न कल-केवल-केतना हो?।।३७।।

अर्थ–हे प्रभो । आपके स्तवनरूप सरोवर में मेरी श्रमणता–मेरी साधुवृत्ति पवित्रता को प्राप्त है नहलायी गई है और शीघ्र ही धुल चुकी है–उज्ज्वल हो चुकी है। यतश्च मेरा यह चैतान्यभाव केवलज्ञानरूप ज्योति का घर है अत निश्चय से सत्पुरुषो के स्तवन को प्राप्त हुआ है।

सुरमणी प्रथमा प्रगुणावलिः, तव परा च शुचि· सुगुणावलिः।
विरमतीव रतिश्च सति त्वयि, त्रिभुवनप्रगताऽपि सती त्वयि !।।

अयि देव ! तव प्रथमा प्रगुणावलि सुरमणी परा च शुचि सुगुणावलि (किन्तु) त्वयि सति रति इव (प्रथमा) विरमति (परन्तु) त्रिभुवनप्रगता अपि सती (विरोध)

लो आपकी रमणि एक गुणावली है,
दूजी सती विषदकीर्तिमयी भली है।
पै एक तो रम रही नित आप में है,
कैसा विरोध यह? एक दिगंत में है ।।३६।।

अर्थ–अये देव ! उत्तमगुणावली आपकी प्रथम सुभार्या है और उज्ज्वलकीर्ति द्वितीय सुभार्या है । इनमें प्रथम सुभार्या तो रति की तरह एक आप में ही विशेपरूप से रमती है परन्तु द्वितीय सुभार्या त्रिभुवन मे जा कर भी सती है। यह कैसा विरोध है?।।३६।।

विकचकंजजयक्षमनेत्रकं, करुणकेसरकं भुवनेऽत्र कम्।
मम सुदृक् सतत सहसेव ते, सरसिज भ्रमरोऽप्यनुसेवते।।

हे ! भुवनेश्वर ! अत्र भुवने ते करुण–केसर–क क विकचकजजयक्षम–
नेत्रकम् मम सुदृक अपि सहसा सरसिजम् भ्रमर इव अनुसेवते।

उत्फुल्ल नीरज खिले तुम नेत्र प्यारे,
हैं शोभते करुण केशर पूर्ण धारे।
मेरा वहीं पर अत. मन स्थान पाता,
जैसा सरोज पर जा अलि बैठ जाता।।४१।।

अर्थ–जिराके नेत्र प्रफुल्ल कमल को जीतने मे सगर्थ हैं तथा जिस पर वृक्ष की केरार के रामान केशर सुशोभित है ऐसे आपके मुख को इस जगत् मे मेरी दृष्टि भी निरन्तर सहसा उस तरह सेवित करती है जिस तरह भ्रमर कमल को सेवित करता है।

गतगतिः सगतिश्च सदागति, र्मम तपोऽनलदीप्तिसदागति ।
भव भवोप्यभवो भवहानये, निजभवो गतमोहमहानये ।।।

हे । अये । भगवान् । गतगति सगति सदागति च असि (अत) मम तपोऽनलदीप्ति सदागति
भव। गतमोहमहान निजभव भव (अपि असि) (अत) मम भवहानये अभव अपि (भव)।

चारों गती मिट गयी तुम ईश ! शम्भू,
हो ज्ञान पूर निजगम्य अत स्वयम्भू,
ध्यानाग्नि दीप्त मम हो तुम वात हो तो,
संसार नष्ट मम हो तुम हाथ हो तो।।४३।।

अर्थ–अये भगवान् ! आप नरकादि गतियो से रहित हो ज्ञान से सहित हो ईश्वर हो मेरी तपरूपी अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए वायु हो कल्याणरूप होकर भी कल्याणरहित (पक्ष में ससार से रहित) हो। अत आप मेरे ससार को नष्ट करने के लिए हो, मोह के नष्ट हो जाने से आप महान तथा स्वयभू हो।।४३।।

चरणयुग्ममिद तव मानस., सनखमौक्तिक एव विमानस !।
भृशमहं विचरामि हि हसंक ! यदिह तत्तटके मुनिहंसक.।।

हे हसक । हे विमानस । तव इदग् चरणयुग्मम रानख– मौक्तिक मानस एव (अस्ति)।
यत् (यस्मात्)तत्–तटके इह अह मुनिहसक हिभृश विचरामि।

श्री पाद मानस सरोवर आपका है,
होते सुशोभित जहाँ नख मौक्तिका है।
स्वामी ! तभी मनस हस मदीय जाता,
प्रायः वहीं विचरता चुग मोति खाता।।४५।।

अर्थ–हे विमानस । हे आत्मरूपहस । नखरूप मोतियों से सहित आपका यह चरण युगल ही मानसरोवर है। इसलिये तो उसके इस तट पर मैं मुनिरूपी हस अत्यधिक विचरता हूँ।।४५।।

स्वकमय ह्ययि नोऽलभमानत', किमु सुखी विकल. किल मानत ।
उपगतोऽभयमेव च दु.खत, इह भवे सहितो भवदुःखत' ।।

जिन प्रसगे– अयि न मनुज । अय (जिन) किल गानत विकल किमु नो सुखी। दु खत अगयम एव च उपगत इव भवे भवदु खत असहित । (मम प्रसगे) दु खत भयम एव उपगत इह भवे भव दु खत सहित मानत (विज्ञानत) विकल स्वकम् अलभमानत सन् किमु सुखी।

हो वर्धमान गतमान प्रमाणधारी,
वयो ना सुखी तुम बनो जब निर्विकारी।
स्वात्मस्थ हो अभय हो मन अक्षजेता,
हो दु ख से बहुत दूर निजात्मवेत्ता।।४७।।

अर्थ–(जिनदेव के प्रसङ्ग मे) हे मेरे मानव ! यह जिनेन्द्रदेव मान–गर्व से रहित हैं तो क्या सुखी नहीं है? दु ख से अभय को ही प्राप्त हुए के समान ससार में जन्म सम्बन्धी दु ख से क्या रहित नहीं है? (अपने प्रसङ्ग मे) दु ख से भय को प्राप्त हुआ नव इस भव मे जन्म सम्बन्धी दु ख से सहित है मान–विज्ञान से रहित है फलस्वरूप आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं होता हुआ क्या सुखी है? अर्थात नहीं है।।४७।।

अमितभा सति भाति विभावतः, परमभानुरसीश ! विभावत.।
वद कथं यदि नोऽप्यमलोद्भवेन्मम तपोमणितोऽप्यनलो भवे।।

हे ईश ! अमल ! विभावत (तव) अमितभा सति विभौ भाति भवे अति परमभानु असि।
यदि ना मम तपोमणित अपि अनल कथ उद्भवेत् (इति) वद ! ।।

स्वामी अपूर्व रवि हो द्युति धाम प्यारे,
ये तेज हीन रवि सम्मुख हो तुम्हारे,
मानो नहीं स्वयम को रवि हे विरागी !
क्यों अग्नि है मम तपो मणि में सुजागी ?।।४६।।

[illegible]-हे ईश ! हे अमल ! विभावसम्पन्न आपकी अपरिमित प्रभा आप विभु के रहते हुए ही सुशोभित होती है। अतः इस [illegible] में आप उत्कृष्ट सूर्य हैं। यदि ऐसा नहीं है तो मेरी तपरूपी सूर्यकान्तमणि से अग्नि क्यों प्रकट होती है? ।।४६।।

समयशामितरागविभावसुरुपगतः स्वयमेव विभावसु।
मयि तथापि सरागतमालये, वससि देव कथ नियमालये।।

हे देव ! समयशामितरागविभावसु (असि) स्वयम एव विभावसु (बोधधन) उपगत (असि) तथापि मयि सरागतमालये नियमालये कथ वससि?

विज्ञान से शमित की रति की निशा है,
पाया प्रकाश तुमने निज की दशा है।
तो भी निवास करते मुझमें विरागी!
आलोक धाम तुम हो, तम मैं, सरागी।।५१।।

अर्थ – हे देव ! यद्यपि आप विज्ञान से रागरूपी अग्नि तथा निशा को नष्ट करने वाले हैं और आप स्वय ही विभारूपी धन को प्राप्त हुए हैं तथापि रागरूपी अधकार के घर तथा नियमो के स्थानभूत मुझमे क्यो निवास कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मैं सराग एव अज्ञानी होता हुआ भी आपका ध्यान करता हूँ।।५१।।

नहि जगज्जिन पश्यसि वस्तुतः, सततमात्मपदं तु भवस्तुत।
त्वदुपयोगतले शुचिदर्शनेऽवतरतीव तदेव तु दर्शने।।

हे जिन! भवस्तुत वस्तुत सतत आत्मपद पश्यसि नहि जगत तु (पश्यसि) (यत)
शुचिदर्शने त्वदुपयोगतले दर्शने इव तदेव तु (जगत एव) अवतरति।।

संसार को निरखते न यथार्थ में हैं,
लो आप केवल निजीय पदार्थ में हैं।
ससार ही झलकता दृग में तथा है,
नाना पदार्थ दल दर्पण मे यथा है।।५३।।

अर्थ – हे जिन! ससार – सभीजनो के द्वारा स्तुत आप यथार्थ से निरतर आत्मपद–स्वरूप को देखते हैं–जानते हैं जगत को नहीं। वही जगत् निर्मल दर्शन वाले आपके उपयोगतल मे – केवलज्ञान मे दर्पण की तरह प्रतिफलित होता है।।५३।।

प्रवचनेऽचिति साऽ प्रतिमानता, ननु मतात्र सता शुचिमानता।
तव विद हि हठाद्यदसंग ! ताः, समयकाः स्वयमीश्वर ! संगता ।।

हे असग । ईश्वर । अत्र तव अचिति प्रवचने सा अप्रतिमानता शुचिमानता ननु सता मता
यत् (यरमात्) (तत्र अय हेतु) तव विदम हि ता सगयका हठात स्वग सगता।

है वस्तुत. जड अचेतन ही तुम्हारी,
वाणी तथापि जग पूज्य प्रमाण प्यारी।
है एक हेतु इसमें तुमने निहारा,
विज्ञान के बल अलोक त्रिलोक सारा।।५५।।

अर्थ – हे निर्ग्रन्थ । हे नाथ । यहाँ आपकी अचेतन वाणी में निश्चय से जो प्रसिद्ध अनुपमता सत्पुरुषो ने स्वीकृत की है तथा निर्मलता को प्राप्त हे उसमे कारण यह है कि जगत के समस्त पदार्थ आपके ज्ञान मे हठपूर्वक स्वय प्राप्त हुए है।

नयति विस्मरण सुखयाचना-मजनुतौ विरतो दयया च ना।
मणिमय. जलधाववगाहित., किमिह याचत ए खनगाहित ! ।।५७।।

ए खनगाहित ! अजनुतौदय या च विरत ना सुखयाचना विस्मरण नयति।
(उचितमेव) इह जलधौ अवगाहित अय (जन) कि मणिम याचते? (कदापि नेत्यर्थ)।

होता विलीन भवदीय उपासना में,
तो भूलता सहज ही सुख याचना मैं।
जो डूबता जलधि में मणि ढूँढ लाने,
क्या मांगता जलधि से मणि दे ! सयाने !।।५७।।

अर्थ – हे इन्द्रियसुख रो विमुख ! भगवन ! भगवत्स्तुति और दया से विमुख रहने वाला मनुष्य सुखयाचना को भूल जाता है। ठीक ही है -- समुद्र मे गोता न लगाने वाला यह मनुष्य ससार में क्या मणि की याचना करता है? अर्थात नहीं करता।।५७।।

य उपधि र्जगता समुपासितः, मृतिभयं न विनामृतपा शित ।
अभयताप्तय एव समुद्यतो, भवदुपासनया द्रुतमुद्यत ।।

हे अमृतपा ! शित ! य_उपधि जगता समुपासित (स) मृतिभय विना न (अत)
एष (मुनि) अभयताप्तये भवदुपासनया समुद्यत यत द्रुतम् उत (स्यात्)।

शका न मृत्यु भय ने सबको हराया,
संसार ने तब परिग्रह को सजाया।
हे सेव्य ! हे अभय ! सेवक मैं विरागी,
मै भी बनूँ अभय जो सब ग्रन्थत्यागी।।५६।।

अर्थ – हे अमृतपा ! मोक्ष अथवा प्रियवस्तु के रक्षक ! हे शित ! ह शात ! जो परिग्रह जगत् के द्वारा सेवित है वह मृत्यु के भय के विना नहीं अर्थात् मृत्यु से बचने के लिये ही जगत् परिग्रह को उपार्जित सचित और सुरक्षित रखता है। इसीलिये यह मुनि अभयता– निर्भयता की प्राप्ति के लिये आपकी उपासना में समुद्यत है। इसी से वह शीघ्र ऊर्ध्वगामी – सिद्ध हो जाता है।।५६।।

नहि गभीर इहेदुनियोगतः, स जलधिस्स्खलितो निजयोगतः।
असि गभीरतमो निजधाम न, त्यजसि यत् सुखदं च मुधाऽमन ।।

हे अमन ! इह (जगति) स जलधि इन्दुनियोगत निजयोगत स्खलित (अत) न हि गभीर (अस्ति किन्तु) (त्व) सुखद निजधाम च मुधा न त्यजसि यत् गभीरतम (असि)।

गभीर सागर नहीं शशि दर्श पाता,
गांभीर्य त्याग तट बाहर भाग आता।
गंभीर आप रहते निज में इसी से,
होते प्रभावित नहीं जग मे किसी से।।६१।।

अर्थ – हे अमन ! हे भावमन से रहित ! इस जगत् में यह समुद्र चन्द्रमा के सयोग से स्वकीय गाभीर्य से विचलित हो जाता है। अर्थात् चन्द्रमा के दर्शन से समुद्र उद्वेलित हो जाता है। अत वह गभीर नहीं है किन्तु आप व्यर्थ ही अपने सुखदायकधाम – तेज अथवा स्थान का त्याग नहीं करते अत गम्भीरतम हैं।।६१।।

त्वयि रुचिं च विना शिवराधनम्, भवतु केवलमात्मविराधनम्।
नगविदारणवत् शिरसा यते!, मतमिदं जगतां स्वरसायते।।

हे यते ! त्वयि रुचि बिना शिवराधनम् केवलम् आत्मविराधनम् शिरसा नमविदारणवत
भवतु ! इति ते इदम मतम् (यत्) जगताम् स्वरसाय (अस्तु)।

शुद्धात्म मे रुचि बिना शिवसाधना है,
रे निर्विवाद यह आत्मविराधना है।
हो आत्मघात शिर से गिरि फोडने से,
तेरा यही मत इसे सुख मानने से।।६३।।

अर्थ – हे यतिराज ! आप से प्रीति अथवा श्रद्धा के विना मोक्ष की आराधना करना – तपश्चरणादि करना शिर से पहाड फोडने के समान मात्र आत्मविराधना–आत्मघात है। आपका यह मत जगत् के सुख के लिये है।।६३।।

अरि निजानुभवादिसमाधित., स्खलितवान् भवतो द्रुतमाधितः।
सुधृतिमन्त इतीश ! तदाप्तये, स्वनिरता मुनयोऽपि सदाप्त ! ये।।

हे ईश ! आप्त ! निजानुभवादि समाधित आधित भवत द्रुत स्खलितवान् इति (मत्वा)
तदाप्तये सुधृतिमत ये मुनय सदा स्वनिरता सन्ति।

स्वामी! निजानुभवरूप समाधि द्वारा,
पाया, मिटी-भव-भवाब्धि, भवाब्धि पारा।
ये धैर्य धार बुध साधु समाधि साधें,
साधे अतः सहज को निज को अबाधें।।६५।।

अर्थ – हे ईश ! हे आप्त ! आप निजानुभवनरूप समाधि–ध्यान से मानसिक व्यथारूप ससार से निवृत्त हुए हैं ऐसा मानकर जो उत्तम धैर्य से युक्त मुनि हैं वे भी सदा स्वनिरत–आत्मलीन रहते हैं।।६५।।

जननसागरशोषणभाकर., तृषितजीवनदोऽसिशुभाकरः।
खझषजाल इतीह सुगी र्यतेः सुमुनिना ह्यमुनाप्यथ गीयते।।

भगवन् ! इह (भुवि) जननसागरशोषणभाकर शुभाकर तृषितजीवनद खझषजाल असि इति यते सुगी (वर्तते) अथ हि सुमुनिना ह्यमुना अपि गीयते (भगवान्)।

हो तेज भानु भवसागर को सुखाने,
गंगा तुम्हीं तृषित की कुतृषा बुझाने।
हो जाल इंद्रियमयी मछली मिटाने,
मैं भी, तुम्हें सुबुध भी, इस भाँति मानें।।६७।।

अर्थ – हे भगवन् ! इस जगत् में आप ससाररूपी समुद्र को सुखाने के लिये प्रचड सूर्य हैं। तृष्णारूपी तृषा से पीडित मनुष्य को जीवन–सतोष रूपी जल को देने वाले हैं। शुभाकर पुण्य की खान हैं तथा इद्रियरूपी मछलियों को वश करने के लिये जाल स्वरूप हो। इस तरह आपके विषय में गणधरादि मुनियों की उत्तम वाणी है। अब मुझ मुनि के द्वारा भी यही कहा जाता है।

तव मते सति ते विफला मता, लयमयन्ति हठाद्विमला मताः।
लवणवद् अशने च सदाऽमिते, जिन! विदं सहजां सुखदामिते।।

हे जिन ! तव सहजा सुखदा विद इते अमिते सति मते च अशने लवणवत्(हि)
सदा ते विफला मता लय अयति हटात् विमला मता (पूज्या भवति)।

स्याद्ववादरूप मत मे, मत अन्य खारे,
ज्यो ही मिले मधुर हो बन जाएं प्यारे
मात्रानुसार यदि भोजन में मिलाओ,
खारा भले लवण हो अति स्वाद पाओ।।६६।।

अर्थ – हे जिन ! आपके सहज सुखदायक ज्ञा‍न को प्राप्त अपरिमित प्रशस्त मत में यदि एकान्तवाद के कारण अकार्यकारी अन्य मत–धर्म लीनता को प्राप्त हो जावें तो विशाल भोजन मे नमक की तरह वे भी हठात् निर्मल – निर्दोष होकर पूज्य हो जावे।।६६।।

यदुदितं वचनं शुचि साधुना, वदति तत् न कुधीरिति साधु ना।
ज्वरमितः सुपय. किमु ना सितां, ह्यनुभवद् भुवि रोगविनाशिताम्।।

हे साधो ! (त्वया) साधुना यत शुचि वचनम उदितम तत् साधु न इति कुधी ना वदति। (उचितमेव) भुविरोगविनाशिता सिता अनुभवत् सुपय ज्वरमित (ज्वर गत) ना किमु (तथा न वदति)।

मिथ्यात्व से भ्रमित चित्त सही नहीं है,
तेरे उसे वचन ये रुचते नहीं है
मिश्री मिला पय उसे रुचता कहाँ है ?
जो दीन पीडित दुखी ज्वर से अहा ! है।।७१।।

अर्थ – हे साधो ! आप साधु के द्वारा जो निर्दोष वचन कहा गया है वह ठीक नहीं है ऐसा अज्ञानी पुरुष कहता है। उचित ही है क्योंकि पृथिवी पर रोग को नष्ट करने वाली मिश्री से युक्त उत्तम दूध को ज्वरसहित मनुष्य वैसा नहीं है मीठा नहीं है ऐसा क्या नहीं कहता?।।७१।।

जिनवरं परिवेत्ति विनिश्चितं, स नितरां हि निजं च मुनिश्चितम्।
किमु न धूम्रविदत्र सदागतेः, सहचरं सहजं च सदागते !।।

हे सदागते ! (य) जिनवर परिवेत्ति स मुनि हि नितराम् निजम् चितम् (परिवेत्ति) (उचितमेव) अत्र (भुवि) य धूम्रवित् सदागते सहचर च किमु न सहजम् (परिवेत्ति?)।

श्रद्धासमेत तुमको यदि जानता है,
शुद्धात्म को वह अवश्य पिछानता है।
धूवाँ दिखा अनल का अनुमान होता,
है तर्क शास्त्र पढते दृढ बोध होता।।७३।।

अर्थ – हे सदागते ! हे शाश्वतिक ज्ञान के धारक ! जो जिनवर–अरहन्तदेव को जानता है वह मुनि निश्चय से अच्छी तरह निज आत्मा को जानता है। ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर जो धुवा का जानकार है वह क्या सहज ही अग्नि को नहीं जानता? अवश्य जानता है।।७३।।

तव नुतेः सुखदश्च भृशं कर, उरसि मे विशतीह नु शंकर !।
दिनकरस्य शिवास्य विभावतः, सदनरंध्र इवाज ! हि भावतः।।

हे अज ! शकर ! शिव ! तव नुते सुखद कर च भृशम् मे इह उरसि
अस्य विभावत दिनकरस्य सद रन्ध्रे (कर) इव हि भावत विशति।

त्यों आपके स्तवन की किरणावली है,
पाती प्रवेश मुझमें सुखदा भली है।
ज्यों ज्योति पुज रवि की प्रखरा प्रभाली,
हो रंध्र में सदन के घुसती निराली।।७५।।

अर्थ – हे अज ! हे शातिविधायक ! हे सुखस्वरूप ! आपकी स्तुति से आपका सुखप्रद श्रद्धान अथवा आपकी स्तुति की किरणावली मेरे इस हृदय में परमार्थ से उस तरह अत्यधिक प्रवेश कर रही है जिस तरह कि प्रभापुज सूर्य की किरण सच्छिद्र घर में प्रवेश करती है।। ७५।।

त्वयि रुचे रहिताय न दर्शनं, तव हिताय वृथा तददर्शनम्।
खविकलाय करोतु न दर्पणं, समवलोकनशक्तिमुदर्पणम्।।

हे जिन ! त्वयि रुचे रहिताय तव दर्शनम् न हिताय (किन्तु) तत् वृथा
अदर्शनम् (एव अस्तु) (उचितमेव) खविकलाय समवलोकनशक्तिमुदर्पणम् न करोतु।

स्वामी तुम्हें न जिसने रुचि से निहारा,
देता उसे न "दृग" दर्शन है तुम्हारा।
जो अन्ध है, विमल दर्पण क्या करेगा,
क्या नेत्र देकर कृतार्थ उसे करेगा?।।७७।।

अर्थ – हे जिन ! जो आपमे प्रीति अथवा श्रद्धा से रहित है उसके लिये आपका दर्शन अथवा शासन हितकारी नहीं होता। उसका दर्शन व्यर्थ है अदर्शन के समान है। यह उचित ही है क्योकि नेत्रेन्द्रिय से हीन मनुष्य के लिये क्या दर्पण देखने की शक्ति से उत्पन्न होने वाले हर्ष को प्रदान कर सकता है? अर्थात् नहीं।। ७७।।

ननु मुनेश्च यथा धृतवृत्तत', स्रवतिशान्तरस प्रतिवृत्ततः।
अविरलं त्वदुपासकतोऽमनो, नहि तथा शशिनो मुखतो मनो !।।

हे अमन ! मनो ! ननु धृतवृत्तत त्वदुपासकत (मत्) मुने च यथा अविरलम् शान्तरस स्रवति प्रतिवृत्त (अस्मात् काव्यत) (शान्तरस स्रवति) तथा शशिन मुखत नहि स्रवति।

जैसा सुशान्त रस वो मम आत्म से है,
धारा प्रवाह झरता इस काव्य से है।
वैसा कहाँ झर रहा शशि बिम्ब से है,
पूजें तुम्हे तदपि दूर सुवृत्त से है।।७६।।

अर्थ – हे अमन ! मनो ! हे भावमन से रहित ! जिनदेव ! सम्यक चारित्र को धारण करने वाले आपके उपासक मुझ मुनि से तथा इस काव्य के प्रत्येक छन्द से जैसा शान्त रस झर रहा है वैसा चन्द्रमा के बिम्ब से नहीं झरता।।७६।।

अलमजे यमतोऽनियमो हत॰, सविकलोऽशनतोपि विमोहत ।
वसनतोपि जितेन्द्रियवामतः, परनतो विरतोऽपि भवामतः।।

ई अज ! जितेंद्रियवामत॰ वसनत अलम भवामत॰ विरत (तत) परनत॰ अपि (अलम्)।
अजे अनियम हत॰ (अत) यमत॰ (अलम्) विमोहत सविकल (अत) अशनत अपि अलम (अस्तु)

है मोह नष्ट तुममे फिर अन्न से क्या ?
त्यागा असंयम, सुसंयम भार से क्या ?
मारा कुमार तुमने फिर वस्त्र से क्या ?
है पूज्य ही बन गये, पर पूज्य से क्या ?।।८१।।

अर्थ – ई अज ! हे जन्मातीत ! यदि अनियम–स्वैराचार छूट गया है तो सयम से क्या? यदि शरीर से मोह छूट गया है तो अन्न से क्या? यदि कामेन्द्रिय को जीत लिया है तो वस्त्र से क्या? यदि ससाररूपी रोग से विरत हो गये हैं तो श्रेष्ठ जिनेन्द्र अथवा अन्य पूज्य से क्या? अर्थात् सब अनावश्यक है।।८१।।

मम मति. क्षणिका ह्यपि चिन्मयी, तदुदिता न चितो यदतन्मयी।
ननु न वीचिततिः सरसा विना, भवतु वा न सरश्च तया विना ।।

हे विना ! मम क्षणिका अपि चिन्मयी मति (अस्तु) तदुदिता (अत) न चित यत् (यस्मात्) अतन्मयी (अस्तु) ननु वीचितति सरसा विना न भवतु (किन्तु) सर तया विना भवतु न वा।

मेरी भली विकृति पै मति चेतना है,
चैतन्य से उदित है जिन-देशना है।
कल्लोल के बिन सरोवर तो मिलेगा,
कल्लोल वो बिन सरोवर क्या मिलेगा? ।।८३।।

अर्थ – हे विना ! हे विशिष्ट नेता ! मेरी क्षणिक बुद्धि भी – क्षायोपशमिकप्रतिभा भी चैतन्यमयी है क्योंकि वह उसी चैतन्य से उत्पन्न हुई है परन्तु जो चैतन्य है वह क्षायोपशमिक बुद्धि रूप नहीं भी है। जैसे लहरो की सतति तालाब के विना नहीं होती पर तालाब लहरों के विना भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक बुद्धि तो चैतन्यमयी है परन्तु चैतन्य क्षायोपशमिक बुद्धि रूप होवे भी और नहीं भी होवे।।८३।।

सकलवस्तुगमा तव नासिका, परममानमयी भ्रमनाशिका।
भगवतात्र ततो हि समाहिता, दृगमलाप्यचला च समाहिता।।

हे जिन ! तव परममानमयी सकलवस्तुगमा भ्रमनाशिका नासिका (अस्ति) तत
अत्र (नासिकायाम्) भगवता अमला, अचला समा हिता, च दृक हि समाहिता।

वो आपकी सकल वस्तुप्रकाशिनी है,
नासा, प्रमाणमय, विभ्रम-नाशिनी है।
नासाग्र पे इसलिए तुम साम्यदृष्टि,
आसीन है सतत शाश्वत शाति सृष्टि।।८५।।

अर्थ – हे भगवन ! यतश्च आपकी नासा समस्त पदार्थों को जानने वाली अधिक परिमाण वाली और भ्रम का नाश करने वाली है। इसीलिये आपने निर्मल, निश्चल माध्यस्थ्यभाव से सहित तथा हित रूप अपनी दृष्टि इस नासा पर लगा रक्खी है।।८५।।

परमवीरक आत्मजयीह त, इति शिवो हृदि लोकजयी हतः।
अणुरसीति ममोरसि तानित., समयकान् स्वविदा भवतानित ।।

हे वीर ! इह आत्मजयी (अत) परमवीरक असि ते हृदि लोकजयी (काम) हत इति शिव (असि) मम उरसि असि इति अणु असि ! तान् (सकलान्) समयकान् स्वविदा इत (इति) भवतानित (विश्वव्यापी) असि।

हो धीर वीर तुम चूँकि निजात्म जेता,
मारा कुमार तुमने "शिव" साधु नेता।
सर्वज्ञ हो इसलिए तुम सर्वव्यापी,
बैठे मदीय मन में अणु हो तथापि।।८७।।

अर्थ – हे वीर ! आप आत्मजयी हैं अत परमवीर हैं। आपके हृदय मे लोकविजयी–काम नष्ट हुआ है अत आप शिव–शकर अथवा कल्याणरूप हैं। आप मेरे हृदय में आसीन हैं अत अणुरूप हैं और अपने ज्ञान से समस्त पदार्थो को प्राप्त हैं अत विश्वव्यापी हैं।।८७।।

अभयदानविधावसि सद्विधि, र्जगति दर्शितसत्पथसद्विधि·।
भगवता विजित· स्वबलैर्विधि, रिति भवन्तमये मम वै विधिः।।

हे विधे । जगति दर्शितसत्पथसद्विधि अभयदानविधौ सद्विधि असि । भगवता
स्वबलै विधि विजित इति भवन्तम् (अये) (इति) मम वै विधि ।

धाता तुम्हीं अभय दे जग को जिलाते,
नेता तुम्हीं सहज सत्पथ भी दिखाते।
मृत्युंजयी बन गये भगवान् कहाते,
सौभाग्य है, कि मम मन्दिर मे सुहाते।।८६।।

अर्थ – हे भगवन् जगत् में आपने सन्मार्ग का समीचीन उपाय दिखाया है अत आप अभयदान के करने मे उत्तम विधि से युक्त हैं – अतिशय निपुण हैं। आपने स्वकीय आत्मबलो से विधि–कर्मकलाप को जीता है इसलिये मैं आपकी शरण म आया हूँ यही मेरी निश्चय से विधि है।।८६।।

शिरसि भाति तथा ह्यमले तरां, कचततिः कुटिला धवलेतरा।
मलयचन्दनशाखिनि विश्रुते, विषधराश्च यथा जिन ! विश्रुते।।

हे विश्रुते ! तव हि अमले शिरसि धवलेतरा कुटिला कचततिः तराम् तथा भाति।
विश्रुते मलयचन्दनशाखिनि विषधरा च यथा (भाति)।

काले घने कुटिल चिक्कण केश प्यारे,
ऐसे मुझे दिख रहे शिर के तुम्हारे।
जैसे कहीं मलयचन्दन वृक्ष से ही,
हो कृष्ण नाग लिपटे अयि दिव्य देही !।।६१।।

अर्थ – हे विश्रुते ! विशिष्ट श्रुति के धारक ! आपके निर्मल शिर पर कालेकाले घुंघराले बाल उस प्रकार अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं जिस प्रकार कि मलयचन्दन के वृक्ष पर काले–काले साप सुशोभित होते हैं।।६१।।

तवलवाश्च तरंति सुभावि मे, परममानमदोऽत्र विभाविमे।
भगवतोस्त्यिति यद् ह्यमितं श्रुतं, सह दृशा मुनिना पठितं श्रुतम्।।

हे भगवन् ! अद सुभावि परममानम अत्र विभौ तव इमे लवा च तरति इति भगवत
अमितम् श्रुतम् अस्ति यत् (मया) मुनिना दृशा सह हि पठितम् श्रुतम।

मेरी सुसुप्त उस केवल की दशा मे,
ये आपकी सहज तैर रहीं दशायें।
यो आपका कह रहा श्रुत सत्य प्यारा,
मैंने उसे सुन गुणा रुचि संग धारा।।६३।।

अर्थ – हे भगवन् ! यह भावी उत्कृष्ट ज्ञान है और इस व्यापक ज्ञान में आपकी ये समस्त दशाएं तैर रही हैं–प्रतिबिम्बित हो रही हैं ऐसा भगवान आपका अपरिमित श्रुत है जो मुझ मुनि ने श्रद्धा के साथ [illegible] से पढ़ा है और सुना है।।६३।।

किल विदा कमयंति विरागिणस्तदितरद् कुविदा भुवि रागिणः।
शुचिमिते जिन ते भव सन्मते!, समुदितं विशद त्विति सन्मते।।

हे सन्मते ! भव जिन ! भुवि विरागिण किल विदा कम् अयति। रागिण कुविदा तदितरत् (दु खम्) (अयन्ति) इति ते सन्मते शुचिम् इते (शुचिमते) विशदम् समुदितम्।

विज्ञान से अति सुखी बुध वीतरागी,
अज्ञान से नित दुखी मद-मत्त, रागी।
ऐसा सदा कह रहा मत आपका है,
धर्मात्म का सहचरी, रिपु पाप का है।।६५।।

अर्थ – हे सद्बुद्धि से विशोभित ! हे प्रशस्तजिन ! पृथिवी पर विरागी मनुष्य सम्यग्ज्ञान से सुख को प्राप्त होते हैं और रागी मनुष्य कुज्ञान से दुःख को प्राप्त होते हैं। इस तरह शुचिता को प्राप्त करके समीचीन मत में स्पष्ट रूप से कहा गया है।।६५।।

विरत ईश ! भवामि न हसत , पदयुगादिह तावदह सत ।
विदमला मम नृत्यति सम्मुख, सदय!यावदिता विहसन्मुखम्।।

हे सदय ! ईश ! हसत सत पदयुगात् अहम तावत् विरत न भवामि यावत्
ममसम्मुख विहसन्मुख इता विदमला नृत्यति।

लो आपके सुखमयी पदपंकजो मे,
श्रद्धासमेत नत हूँ तव लौ विभो मै।
विज्ञानरूप रमणी मम सामने आ,
ना नाच गान करती जब लौ न नेहा।।६७।।

अर्थ – हे सदय ! ईश ! हे दयालो भगवन् ! [illegible] [illegible] मे मै आपके विवेकरूप श्रेष्ठ चरण युगल से तब तक विरत–पराङ्मुख नही होता हूँ, जब तक मेरे सम्मुख प्रसन्नवदना निर्मलचेतना नृत्य करती है।।६७।।

गुणवतामिति चासि मतोऽक्षर , किलि तथापि न चित्तवतोऽक्षर ।
नहि जिनाप्यसि तेन विना सित , स्तुतिरिय च कृतात्र विनाशित ।।

हे जिन (त्व) अक्षर असि इति गुणवताम् मत किल तथापि चित्तवत अक्षर (शब्दमय) न (असि)। (किन्तु) तेन विना (शब्देन विना) (मया) सित (ज्ञात) अपि न (असि)। अत अत्र विनाशित (शब्दै) इयम च (ते) स्तुति (मया) कृता।

हो मृत्यु से रहित "अक्षर" हो कहाते,
हो शुद्ध जीव "जड अक्षर" हो न ताते।
तो भी तुम्हे न बिन अक्षर जान पाया,
स्वामी अत स्तवन अक्षर से रचाया।।६६।।

अर्थ – हे जिन ! यद्यपि आप अक्षर – अविनाशी हो ऐसा गुणवानों का मत है तथापि चित्तवान्–आत्मा के अक्षररूपता कैसे हो सकती है? क्योंकि आप सचेतन हैं और अक्षर पौद्‌गलिक होने से जड रूप हैं। आप अक्षररूप नहीं हैं यह ठीक है फिर भी अक्षर के बिना आप ज्ञात नहीं हैं। अर्थात् अक्षरो से ही आपका ज्ञान होता है। अत इस जगत् मे आपकी यह स्तुति मैंने शब्दों से की है।।६६।।

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहि ज्ञान
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ शोध पढे धीमान।।

रचना काल एवं स्थान परिचय

श्रीधरकेण चान्तेन केवलिना शुचिं गते।
सद्धक्षेत्रे सुरम्येऽत्र विख्याते कुण्डल गिरौ।।१।।

गुप्ति-ख-गति-सगेऽदो वीर संवत्सरे शुभे।।
श्रुतस्य पच्चमीमीत्त्वेतीमामितिं मितिं त्वितम् ।।

१ गुप्ति=३, ख=आकाश =०, गति–पचम/ सिद्धगति=५, सग = आभ्यतर एव बाह्य परिग्रह = २,यानि ३०५२, अकाना वीमतो ति के अनुसार वीर निर्वाण सवत् २५०३ (विक्रम सवत् २०३२, शक् सव १८६७) की ज्येष्ठ शुक्ल पचमी श्रुतपचमी तिथि सोमवार २३ मई १६७७ ई को दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर महाराज के द्वारा श्री दिगम्बर जैन सिद्ध कुण्डलगिरी (कुण्डलपुर) दमोह (म प्र) मे यह निरजन शतक (सस्कृत) की रचना पूर्ण हुई।

साधव इह समाहितं नमन्ति सतां समाधृतसमा हितम् ।
कुर्वन् हृदि समाहितं तमहमपि वन्दे समाहितम् ।।

इह सता हित समाहित समाधृतसमा साधव नमन्ति
त हृदि समाहित कुर्वन् अहम् अपि वन्दे।

शोभे प्रभो परम पावन पा पदों को,
योगी करे नमन ये जिनके पदों को।
सौभाग्य मान उनको उर मे बिठा लूँ,
साफल्यपूर्ण निज-जीवन को बना लूँ।।१।।

अर्थ– इस जगत् में जो सत्पुरुषो का हित करने वाले हैं समाहित–युक्ति–आगम से सिद्ध हैं तथा समाधिस्थ हैं–ध्यान निलीन हैं उन अरहन्त परमेष्ठी को साम्यभाव के धारक साधु नमस्कार करते हैं। अत उन्हें हृदय मे धारण करता हुआ मैं भी नमस्कार करता हूँ – उनकी त्रिकाल वन्दना करता हूँ ।।१।।

भावना शतकम्

भक्त्येप्सितास्त्रवारिर्मोहतम प्रसारत्वादवारि· ।
धर्मवारिदां वारिमीडेऽनिच्छन् विषयवारि ।।

ईप्सितास्त्रवारि मोहतम प्रसारत्वाद् अवारि (अहम्)
विषयवारि अनिच्छन् धर्मवारिदा वारिं भक्तया ईडे।

अन्धा विमोहतम में भटका फिरा हूँ,
कैसे प्रकाश बिन संवर भाव पाऊँ।
हे शारदे ! विनय से द्वय हाथ जोड़ूँ,
आलोक दे विषय को विष मान छोड़ूँ ।।३।।

अर्थ– जो सवर का इच्छुक है तथा मोहरूपी तिमिर का प्रसार होने से नेत्रहीन है, ऐसा मैं विषय रूप जल की इच्छा न करता हुआ धर्मरूप जल को देने वाली सरस्वती की भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ ।।३।।

यतो जिनपददर्शनं तदस्त्विह दर्शनशुद्धं दर्शनम्।
दर्शयति सद्दर्शनं जगति जयतु जैन दर्शनम् ।।

दर्शनशुद्ध दर्शन तत् अस्तु यतो जिनपददर्शन (भवति)
(इति) जैन दर्शन सद्दर्शन दर्शयति (तत्) जगति इह जयतु।

आदर्श सादृश सुदर्शन शुद्धि प्यारी,
पाके जिसे जिन बने स्व-परोपकारी।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
साक्षात् भवाम्बुनिधि के यह भव्य सेतु ।।५।।

अर्थ– वह सम्यग्दर्शन दर्पण के समान निर्मल हो जिससे जिनपद – तीर्थकरपद का दर्शन होता है। इस प्रकार जैनदर्शन–जैनशास्त्र सम्यग्दर्शन को दिखाता है– प्राप्ति कराता है। जगत् में वह सम्यग्दर्शन जयवत रहे ।।५।।

करुणाभाववसत्या सद्भिरिदं सेवितायां वसत्याम् ।
लसतु मानव ! सत्यां वसतिपतिप्रभेव वसत्याम् ।।

वसत्या सत्या वसतिपतिप्रभा इव हे मानव !
सद्भि सेविताया वसत्या करुणाभाववसत्या (सत्या) इद (दर्शन) लसतु।

जो अंग-अग करुणारस से भरा है,
शोभायमान दृग से वह हो रहा है।
औचित्य है समझ में यत बात आती,
अत्युज्ज्वला शशिकला निशि में सुहाती ।।७।।

अर्थ– रात्रि होने पर जिस प्रकार चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है उसी प्रकार हे मानव ! सत्पुरुषों के द्वारा चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है उसी प्रकार है मानव ! सत्पुरुषो के द्वारा सेवित प्रवृत्ति में करुणाभाव की वसति–स्थिति होने पर यह सम्यग्दर्शन सुशोभित हो ।।७।।

जितमोहहारकेण व्यालसता शुचिनयमणिहारकेण।
विना ह्यपि हारकेण प्राप्यते न व्यवहारकेण ।।

शुचिनयमणिहारकेण व्यालसता जितमोहहारकेण,
हारकेण विना अपि इद प्राप्यते (किन्तु) व्यवहारकेण न (प्राप्यते)।

दुर्जेय मोहरिपु को जिनने दबाया,
शुद्धोपयोग मणिहार गले सजाया।
वे साधु बोध बिन भी दृग शुद्धि पाते,
जा बाह्य में निरत है दुख ही उठाते ।।६।।

अर्थ– जिसमे निश्चयनय मणिमय हार है जो सुशोभित है तथा जिसने मोहरूपी चोर को जीत लिया है ऐसे हारक–विशिष्ट ज्ञान के बिना भी यह सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु मात्र व्यवहारनय से नहीं प्राप्त होता ।।६।।

दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः ।
भव्याब्जककदा वाशस्पर्शकोंऽशुशुभाकरः ।।

[illegible]
[illegible]

आलोक दे सुजन को रवि से जगाती,
    है भव्य कंज दल को सहसा खिलाती।
है पापरूप तम को क्षण में मिटाती,
    ऐसी सुदर्शन विशुद्धि किसे न भाती? ।।१०।।

अर्थ– केवल ज्ञान के प्रदान करने में समर्थ दर्शनविशुद्धिरूपी सूर्य किरणों की शुभ खान है अ
से सुशोभित है और भव्यजीव रूप कमलों को सुख देने वाला है यह निश्चय है ।।१०।।

न मयाऽकं न नपावनं विनयो यियासुनार्च्यते पावनम्।
मुक्त्वा सुधीः पावनं कोऽटेद् ग्रीष्मार्त्तः पावनम् ।।

हे नप ! पावन अवन यियासुना मया विनय अर्च्यते न
अक (अच्यते) क सुधी ग्रीष्मार्त पावन मुक्त्वा पावन अटेत् (कोऽपि नेत्यर्थ)।

ना पाप को, विनय को शिर मैं नमाता,
हे वीर ! क्योकि मुझको निज सौख्य भाता।
जो भी गया तपन तापतया-सताया,
क्या चाहता अनल को, तज नीर छाया?।।११।।

अर्थ– हे नप ! हे पूज्यरक्षक ! पवित्र रक्षण को प्राप्त करने के इच्छुक मेरे द्वारा विनय की पूजा की जाती है अक – पाप की नहीं। कौन ऐसा विद्वान् है जो गरमी से पीडित होता हुआ पवन – वायु को छोड पवन–अग्नि को प्राप्त हो ? अर्थात कोई नहीं ।।११।।

एतद्द्विषं साधनं जयश्रीरिवेनगूनसाधनम्।
व्रजेन्नहि सत् साधनं फलति संसारेऽज्जा धनम् ।।

[illegible]
[illegible]

सेना विहीन नृप ज्यों जय को न पाता,
त्यो हीन जो विनय से शिव को न पाता।
सत् साधना यदि करे दुख भी टलेगा,
संसार में सहज से सुख भी मिलेगा।।१२।।

अर्थ– विनय से द्वेष करने वाले मनुष्य को साधन–सिद्धि उस प्रकार नहीं प्राप्त होती जिस प्रका कि ऊनसाधन – कम सेना वाले राजा को विजय लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। उचित है क्योंकि समीची साधन – उपाय ही यथार्थ रूप से धन को फलता है ।।१२।।

एतद्व्रहता गमितं ह्यनन्तान्तं पापं सम्यगमितम्।
स्वमूल्यं येन गमितं तस्मै क किं नाड्ग मितम् ।।

हे अडग ! अनन्त ! न ! येन एतद्व्रहता (विनयशीलेन) स्वमूल्य गमित
अमित पाप अन्त गमित (तदा) तस्मै मित क कि ? (किम पि नेत्यर्थ)।

निर्भीक हो विनय आयुध को सुधारा,
हे वीर ! मान रिपु को पुनि शीघ्र मारा।
पाया स्वकीय निधि को जिसने यदा है,
क्या मॉगता वह कभी जड संपदा है ।।१३।।

अर्थ– अङग ! अनन्त ! न ! हे अन्तातीतजिनेन्द्र ! विनयसम्पन्नता को धारण करने वाले जिस मनुष्य ने स्वमूल्य–आत्ममूल्य को प्राप्त किया है और अपरिमित पाप को अन्त किया है उसके लिये मित–सीमित–सासारिक सुख क्या है? वह तो मोक्षसम्बन्धी अनन्तसुख का पात्र होता है ।।१३।।

स विनयशीलोऽकेन श्रितमहितमपि कुमार्गगं लोकेन ! ।
मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति लोके न ! ।।

हे लोकेन [illegible] श्रित कुमार्गग अहित अपि लोके
विनयशील मुदा वि[illegible]लोकेन स्वपथग करोति।

वे व्यर्थ का नहिं घमण्ड कभी दिखाते,
सन्मार्ग को विनय से विनयी दिखाते।
पापी कुधी तक तभी भवतीर पाते,
विद्वान भी हृदय में जिनको बिठाते ।।१४।।

अर्थ– हे लोकेन ! हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र ! दुःख या पाप से युक्त कुमार्गगामी शत्रु को भी लोक में विनयशील मनुष्य हर्षपूर्वक ज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा सुपथगामी बना देता है। ।।१४।।

किं स्याद् भगवन्नमितं सुखमवनाविह बिना ह्यनेन मितम्।
वन्दे मुनिभिर्नमित ततो विदांवरैर्मानमितम् ।।

हे भगवन् ! इह अवनौ अमित (ना) मित सुख अनेन
विनयेन विना कि स्यात्? तत विदावरै मुनिभि मान
इत नमित (च) (विनयपद अह) हि वन्दे।

संसार मे विनय के बिन तू चलेगा,
आनन्द भी अमित औ मित क्यों मिलेगा।
योगी सुधी तक सदा इसका सहारा,
लेते अतः नमन हो इसको हमारा ।।१५।।

अर्थ– हे भगवन् ! इस पृथिवी पर अपरिमित और परिमितसुख क्या विनय के बिना हो सकता है? अर्थात् नहीं। इस विनय के द्वारा ही ज्ञानी मुनियों ने सन्मान और नमस्कार को प्राप्त किया है ।।१५।।

एतद्द्विपः प्लवन्ते न भवार्णवं भयङ्करम्।
वान्तदोष भवं ते न भवाभवं न यन्त्यरम् ।।

हे वान्तदोष ! जो भव्य एतद्द्विष (विनयरहित) भय[illegible]कर
भवार्णवम् न प्लवन्ते (तरते) वे अभव भव न [illegible] गति ।

विद्वेष जो विनय से करते कराते,
निर्भान्त वे नहिं भवोदधि तैर पाते ।
जाना उन्हें भव-भवान्तर क्यों न होगा,
ना मोक्ष का विभव संभव भव्य होगा ।।१६।।

अर्थ– हे वान्तदोष ! हे पूज्य ! हे कल्याणरूप ! विनयशीलता से द्वेष रखने वाले मनुष्य भय ससारसागर को नहीं तैर सकते। इसलिये वे अभवभव – जन्मरहित सिद्धपर्याय को शीघ्र नहीं प्र[illegible] होते ।।१६।।

वामवमिना ह्यमानं जगदकमनुभवति ददह्यमानम्।
स हित्वाऽग्राह्यमान जगादेत्यज· सगृह्य मानम् ।।

वामवमिना हि ददह्यमान अमान जगद्अक अनुभवति
इति स अज अग्राह्यमान हित्वा मान सगृह्य जगाद।

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखे जहॉ दुख भरा कुछ ना सहारा।
ऐसे जिनेश कहते, जग के विधाता,
जो काम मान मद त्याग बने प्रमाता ।।१७।।

अर्थ– 'कामरूप अग्नि से अत्यधिक जलता हुआ जगत् अपरिमित दु:ख का अनुभव करता है' ऐसा उन जन्मातीत–जिनेन्द्र ने अग्राह्य – ग्रहण करने के आयोग्य मान को छोडकर तथा ज्ञान का अच्छी तरह सग्रह कर कहा है ।।१७।।

संयमिभिर्महितेन शीलेन समं सुमते! मम हि तेन।
मतिरतिवाम ! हितेन त्वस्तु परं स्वधाम हि तेन।।

हे अतिवाम! सुमते! संयमिभिः महितेन हितेन तेन शीलेन
समं हि मम मतिः अस्तु। तेन (कारणेन) स्वधाम तु परं (अस्तु)।

पूजा गया मुनिगणों यति योगियों से,
त्यों शील, नीलमणि ज्यों जगभोगियों से।
सत् शील में सतत लीन अतः रहूँ मैं,
लो ! मोक्ष को निकट ही फलतः लखूँ मै ।।१८।।

अर्थ– हे निष्काम ! हे सुमतिसपन्न ! जिनेन्द्र ! सयमी साधुओ के द्वारा पूजित हितकारी उस शीलव्रत के साथ ही मेरी बुद्धि रहे और इस कारण श्रेष्ठ स्वधाम–मोक्ष प्राप्त हो ।।१८।।

हिमांशुनाऽनि हिमेन ह्यलं गाङ्गेनाम्बुनाऽनि हिमेन।
वरोऽस्त्वस्यमहिमेन बाह्येतरदाहहा हि मे न ! ।।

हे!इन!न! हिमेन हिमाशुना अपि गाङगेनाम्बुना अपि हिमेन
अल मे अस्य (शीलस्य) बाह्येतरदाहहा महिमा वर अस्तु।

गंगाम्बु को न हिम को शशि को न चाहूँ,
चाहूँ न चन्दन कभी मन मे न लाऊँ।
जो शीलझील मन की गरमी मिटाती,
डूबूँ वहॉ सहज शीतलता सुहाती ।।१६।।

अर्थ– हे स्वामिन हे जिनेन्द्र ! बर्फ चन्द्रमा गगाजल और चन्दन की आवश्यकता नहीं है। इस शीलव्रत की बाह्य और आभ्यन्तर दाह को नष्ट करने वाली उत्कृष्ट महिमा ही मेरे पास रहे ।।१६।।

स्तुतानि ह्यङ्ग तानि व्रतानि यानि सता शुचितां गतानि।
अकानि सम्यगतानि त्यक्त्वा गतान्यनागतानि ।।

हे अङ्ग ! आगतानि अनागतानि गतानि च अकानि हि त्यक्त्वा
यानि सता स्तुतानि शुचिता गतानि व्रतानि तानि सम्यक् (अह) अतानि।

मैं भूत भावि सब साम्प्रत पाप छोड़ूँ,
चारित्र संग झट चंचल चित्त जोड़ूँ।
सौभाग्य मान जिसको मुनि साधु त्यागी,
हैं पूजते नमन भी करते विरागी ।।२०।।

अर्थ– अङग जिनेन्द्र ! आगत–वर्तमान अनागत–भविष्यत् और गत–भूतकाल सम्बन्धी पापो को छोडकर सत्पुरूषो के द्वारा स्तुत होते हुए जो शुचिता–निरतिचारवृत्ति को प्राप्त हुये हैं उन व्रतो को मैं प्राप्त होता हू ।।२०।।

सा भातु गजगलितया सती नानेन संसृतिर्गतितया।
सिद्ध. सदा गतितया सदागतिनोषा जगति तया।।

जगति गजगतितया सा सती भातु गतितया ससृति (भातु) सिद्ध तथा गतितया (भातु)
सदागतिना उषा (भातु) अनेन (शीलेन व्रतेन वा) ना सदा (भातु)।

जैसे सती जगत में गजचाल हो तो,
शोभे उषा पवन मन्द सुगन्ध हो तो।
संसार शोभित रहे गतिचार होवे,
सर्वज्ञ सिद्ध सब वे गतिचार खोवे।
वैसा सुशीलव्रत सयमयोग सेरे ।
होते सुशोभित सुधी, न हि भोग से रे ।।
सिद्धान्तपारग सभी गुरु यों बताते ,
सद्ध्यान मे सतत जीवन है बिताते ।।२१।।

अर्थ– ससार मे वह पतिव्रता स्त्री हाथी जैसी चाल से सुशोभित हो ससार चतुर्गतियो से सुशोभित हो सिद्ध परमेष्ठी प्रसिद्ध केवलज्ञान से अथवा अगतिता--गति राहित्य से सुशोभित हों प्रात काल वायु से सुशोभित हो और मनुष्य इस शीलव्रत से सदा सुशोभित हो ।।२१।।

शीलरथो भयाऽऽरूढो वामोऽनेन भृश स्वत.।
किल ह्यथो भयारूढो यमो येन स शं गत. ।।

अथो हि अनेन मया वाम शीलरथ आरूढ येन
स श गत यम किल स्वत भृश भयारूढ (अवलोक्यते)

निर्भीक मैं बढ रहा शिव ओर स्वामी ,
आरूढ शीलरथ पै अतिशीघ्रगामी।
लो ! काल व्याल-विकराल-कुचाल वाला ,
है भीति से पड गया वह पूर्ण काला ।।२२।।

अर्थ– अब मैंने इस सुन्दर शीलरथ पर आरोहण किया हे जिससे वह हिंसक यम स्वय ही अत्यन्त भयभीत दिखाई देता है ।।२२।।

यथा कल्पते मदनता रसतो मदनाहितेन मदनः ।
मदोऽनलतोऽपि मदनः प्रज्ञानयोगात् कामद ! न ! ।।

हे कामद ! न ! यथा रसत मदनता मदनाहितेन मदन अ ालत मदन
कल्पते (तथा) प्रज्ञानयोगात् मद अपि (कल्पते)।

होता विनिर्विष रसायन से धतूरा,
है अग्नि से पिघलता झट मोम पूरा।
ज्यों काम देख शिव को दश प्राण खोता,
विज्ञान को निरख त्यो मद नष्ट होता ।।२३।।

अर्थ– हे मनोरथ को पूर्ण करने वाले जिनेन्द्र ! जिस प्रकार रसायन से धतूर की मादकता कामवैरी के द्वारा काम और अग्नि से मैन नष्ट हो जाता है उरी प्रकार प्रकृष्ट–श्रेष्ठ ज्ञान के योग से मद–अहकार नष्ट हो जाता है।।२३।।

महतां वराजराजः शिरसि यदूनोऽपि धृतराजराज.।
श्रितो मुनिराजराज स्यादजोऽनेन राजराजः ।।

मुनिराजराज! महता वर अजर! शिरसि धृतराजराज अपि यदून (ज्ञानोपयोगेन)
अज (किन्तु) राजराज अज (कृष्ण) अनेन (ज्ञानोपयोगेन) श्रित स्यात्।

स्वामी ! भले ही शिर पै शशि भा रहा हो,
विज्ञान से विकल शंकर ही रहा हो।
श्रीकृष्ण पाकर इसे कुछ ही दिनों में,
होंगे सुपूज्य यतियों मुनि सज्जनो मे ।।२६।।

अर्थ– हे श्रेष्ठ मुनियो के नाथ! हे महापुरूषों में महान्! हे जजरारहित! जिनेन्द्र! शिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाला शिव भी जिससे रहित हो अज–छाग हुआ किन्तु राजराजेश्वर कृष्ण इस ज्ञानोपयोग से सहित हो तीर्थंकर होंगे।।२६।।

च ञ्चलचित्तसंवरं कलयति च कुरुतेऽयं विधिसंवरम्।
विमदमलीमसंवर गता मुनय आहुः संवरम्।।

अय (ज्ञानोपयोग) विधिसवर कुरुते चञ्चलचितसवर च कलयति (इति)
विगदमलीमरावर सवर गता मु ाय आहु ।

ज्ञानोपयोग वर संवर साधता है,
चाञ्चल्यचित्त झट से यह रोकता है।
भाई निजानुभवियों यति नायको ने,
ऐसा कहा सुन ! जिनेन्द्र उपासको ने ।।२७।।

अर्थ– ज्ञानोपयोग कर्मो के सवर को तथा चञ्चलचित्त के निरोध को करता हैं ऐसा मद रूपी मैल से रहित उत्कृष्ट सवर को प्राप्त मुनि कहते हैं ।।२७।।

ज्ञानरूपी करे दीपोऽमनोऽचलो यतेऽस्त्ययम्।
सन्नरूपी हरेऽपापो जिनोऽवलोक्यते स्वयम्।।

हे हरे। अमन। अयं अचल ज्ञानरूपी दीप करे अस्ति (चेत्)
अपाप अरूपी सन् जिन स्वयं अवलोक्यते।

जाज्वल्यमान न कदापि चलायमान,
हो ज्ञानदीप कर मे यदि विद्यमान।
रूपी दिखे, पर पदार्थ सभी अरूपी
है स्पष्टरूप दिखते जिन चित्स्वरूपी ।।२८।।

अर्थ– हे हरे। हे भावमन से रहित। हे यते। यदि यह अविनाशी ज्ञानरूपी दीपक हाथ में है तो पापो से रहित एव रूप से शून्य जिन स्वयमेव दिखने लगता है।।२८।।

स ना भुवि नायकेन प्रभातु शरो ऽप्यजवाक् विनायकेन।
विरतो विनायकेन संवेगेन विनाऽयकेन।।

हे विन।अयक।इन।न। भुवि नायकेन शर विनायकेन अजवाक अपि प्रभातु।
विनायके विरत स ना सवेगेन (प्रभातु)।

माला सुमेरुमणि से जिस भाँति भाती,
वाणी गणेश मुख से जिनकी सुहाती।
संवेग से मनुज भी उस भाँति भाता,
जो है सदैव जिनका गुणगीत गाता।।२६।।

अर्थ– हे विशिष्टपूज्य ! हे गतिशील ! हे स्वामिन् ! जिनेन्द्र ! जिस प्रकार पृथ्वी पर नायक – मध्यमणि से हार सुशोभित होता है ओर विनायक–गणधर से तीर्थंकर की दिव्यवाणी शोभायमान होती है उसी प्रकार गणधर में लीन मनुष्य भी सवेग से शोभायमान होवे।।२६।।

मुनितात्मनि शान्तेन स्थितेनं च निशेशेन निशान्ते न।
विरवोऽपि निशान्ते नः सत्कवेः कविता निशान्तेन।।

हे न ! आत्मनि स्थितेन अन्तेन शान्तेन मुनिता निशेशेन निशा
शान्तेन सत्कवे कविता च निशान्ते विरव अपि (प्रभातु)।

बोले विहंगम, उषा मन को लुभाती,
शोभावती वह निशा शशि से दिखाती।
हो पूर्ण शान्तरस से कविता कहाती,
शुद्धात्म में मुनि रहे मुनिता सुहाती।।३०।।

अर्थ– हे जिनेन्द्र ! आत्मा में स्थित शान्त भाव से जिस प्रकार मुनिता (मुनिपद) सुशोभित [illegible] है, चन्द्रमा से जिस प्रकार रात्रि सुशोभित होती है, शान्त रस से जिस प्रकार सुकवि की [illegible] होती है और प्रातःकाल से जिस प्रकार पक्षियों का कलरव सुशोभित होता है [illegible] से मुनि सुशोभित हो।।३०।।

भवोरुवनधनजयः कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः।
ततो निजं धनं जय ह्ययं करणभेकधनजय·।।

अय (सवेग) करणभेकधनजय कर्मकौरवगर्वा ताधनजरा
भवोरुवनधनजय (अरित) तत निज धन हि (त्व) जय।

ज्यो मारता सहज अर्जुन कौरवो को,
संवेग त्यों दुरति कर्म अरातियों को।
दावा यथा सघन कानन को जलाता,
ससाररूप वन को यह भी मिटाता।।
ज्यो नाग नाम सुन मेढक भाग जाता,
त्यो ही कषाय इसके नहिं पास आता।
ऐसी विशेष महिमा इसकी सुनी रे !
संवेगरूप घन पा बन जा धनी रे !।।३१।।

अर्थ– यह सवेग इन्द्रियरूप मेंढको को नष्ट करने लिये धनजय–नाग है कर्मरूपी कौरवो के गर्व को नष्ट करने के लिये धनजय–अर्जुन है और ससाररूपी वन को भस्म करने के लिये धनजय–अग्नि है इसलिये आत्मधनस्वरूप सवेगभाव जयवत हो।।३१।।

चिदानन्दोषाकरोऽयमशेषदोषोन । सदोषाकरः।
विलसत्त्वदोषाकरो दोषायां न नु दोषाकरः।।

अय (रावेग) अशेषदोषोन । गिदानन्दोषाकर सदा उपाकर अदोपाकर
अत विलरातु (कि-तु) दोपाया दोपाकर न नु (विलरातु)।

संवेग है परम सौख्यमयी उषा का,
धाता, परन्तु शशि है दुखदा निशा का।
निर्दोष है यह सदा शशि दोष धाम,
संवेग श्रेष्ठ शशि से लसता ललाम।।३२।।

अर्थ– रागरत दोषो रो रहित जिनेन्द्र ! यह रावेगभाव चिदानन्द–आत्मानन्द को प्रकट करने के लिये उषाकर–प्रभातकाल है सदा उपाकर है– कामी गनुष्य को दुख देने वाला है और दोपाकर–अवगुणो की खान नहीं है अत सुशाभित हो किन्तु दोषा–रात्रि में दोपाकर–चन्द्रमा सुशोभित न हो।।३२।।

जितको दृग्भयानक· पापाब्धिवाडवोऽय भयानकः।
अवतीति विभया न कश्चञ्चलमनोमृगभयानक·।।

हे विभया ! अय (सवेग) दृग्भया जितक अनक भयानक पापाब्धिवाडव चञ्चलमनोमृगभयानक च इति क न अवति?

सम्यक्त्वज्योति बल से रवि को हराता,
हे तेज वाडव भवाम्बुधि को सुखाता।
चाञ्चल्यचित्त मृग को यह व्याघ्र खाता,
संवेग आत्मिक महासुख का विधाता।।३३।।

अर्थ– हे विभय ! भय से रहित जिनेन्द्रदेव ! यह सवेगभाव सम्यग्दर्शन की भा–दीप्ति से सूर्य को जीतने वाला है पाप या दुःख से रहित है भयानक है पापरूप समुद्र को सुखाने के लिये वडवानल है और चञ्चल मनरूपी मृग के लिये भयानक शार्दूल है यह कौन नहीं जानता?।।३३।।

संसारदेहभोगेभ्यो भीतिर्भवति सतां परा।
यत् सा सदेह भोऽघेभ्यो हीतिर्भवेऽमिता खरा।।

भो संसारदेहभोगेभ्यः सतां परा भीति भवेत् यत् इह भवे
सदा अपायो अमिता खरा सा ईति (भवेत्)।

संसार से स्वतन से जड भोग से वे,
होते निरीह बुध हैं इनको न सेवें।
पीडा अतीव इनसे दिन रैन होती,
शीघ्रातिशीघ्र बुझती निजबोध ज्योति।।३४।।

अर्थ– हे भगवन्! ससार शरीर और भोगो से सत्पुरुषों को सदा भय रहे जिससे इस ससार मे पापो से वह अपरिमित एव सातिशय ईति–पीडा हो पापो से पलायन हो।।३४।।

ज्वलतात्र शङ्करेण ह्यनाधृतोऽतोऽशङ्करेण।
जगत् सुखि शङ्करेण त्रिशूलमहताऽशङ्करेण।।

हे अशङक ! अन रेण ज्वलता शङकरेण त्याग हि अनाधृत अत
त्रिशूलमहताऽशङकरेण शकरेण जगत् सुखि? (कदापि नेत्यर्थ)

कामाग्नि से जल रहा यदि पूर्ण रागी,
धाता नहीं वह न शंकर है न त्यागी।
तो विश्व का अमित दुःख त्रिशूलधारी,
कैसे मिटाकर, बने स्वपरोपकारी ?।।३५।।

अर्थ– हे अशक ! इस जगत् में कामाग्नि से जलते हुये शिव ने त्यागधर्म का अनादर किया इसलिये त्रिशूलधारी और हिंसाकारी शङ्कर से जगत् सुखी है क्या? अर्थात नहीं है।।३५।।

विदधानमामोदकं नासां कुसुममिव रसनां मोदकम्।
मोदयतु या मोदकं तृषितमिह नुतसमामोदकम्।।

हे नुतराम ! हे अम ! इह नासा आमोदक विदधान कुसुम रसना
मोदक तृषित मोदक उदक इव (अयं त्यागधर्म) मा (मा) मोदयतु।

ले क्षीर स्वाद रसना अति मोद पाती,
पा फूल फूल-सम नासिक फूल जाती।
सतुष्ट ओ तृषित शीतल नीर से हो,
मेरा सुतृप्त मन तो अघत्याग से हो।।३६।।

अर्थ– हे नुतराम ! सबके द्वारा स्तुत ! हे अम ! हे बन्धन से रहित ! जिस प्रकार सुगंधित पुष्प नासिका को लड्डू रसना को और पानी प्यासे मनुष्य को प्रमुदित करता है उसी प्रकार यह त्यागधर्म मुझे प्रमुदित करे।।३६।।

मोदेऽमुनाहमधुना नासानन्दनेनेवाम्रमधुना।
लता कोकिलो मधुना नन्दनो जननीस्तनमधुना।।

नासानन्दनेन आम्रमधुना कोकिल जननीस्तनमधुना नन्दन
मधुना लता इव अह अधुना अमुना (त्यागधर्मेण) मोदे।

संतुष्ट बाल जननीस्तनपान से हो,
फूले लता ललित लो ! जलस्नान से हो।
हो तुष्ट आम्रकलिका लख कोकिला वे,
मेरा कषाय तज के मन मोद पावे।।३७।।

अर्थ– जिस प्रकार घ्राण को आनन्द देने वाले आम के मकरन्द से कोयल माँ के स्तन से निकले दूध से बालक और जल से लता प्रसन्न होती है उसी प्रकार मैं इस समय इस त्यागधर्म से प्रसन्न हो रहा हूँ।।३७।।

सत्यस्मिन्नेव संत्याग आलोको भास्करे यथा।
सत्यं मुने ह्यसङ्गाङ्ग व्यलोलं भातु रे ! तथा।।

हे ! अग असग मुने ! यथा भास्करे सति आलोक भातु तथा
अस्मिन् सत्याग सति हि सत्य व्यलोल भातु।

मैं वीतराग बन के मन रोकता हूँ,
तो सत्य तथ्य निजरूप विलोकता हूँ।
आलोक हो अरुण ओ जब जन्म लेता,
अज्ञात को नयन भी झट देख लेता।।४०।।

अर्थ– अग असग मुने ! जिस प्रकार सूर्य के रहते प्रकाश सुशोभित रहता है उसी प्रकार इस त्यागधर्म के रहते हुए सत्यधर्म निश्चय से अत्यन्त स्थिर सुशोभित रहे।।४०।।

स्थितिर्निजात्मनि काये तपो न मुनेः क्षणान्तात्मनि काये।
रता वदन्ति निकायेऽन्यथा त्विति व्यथा मुनिका ये।।

क्षणान्तात्मनि काये स्थिति मुन तप न (किन्तु) काये निजात्मनि स्थिति तप
अन्यथा तु व्यथा (भवेत्) इति निकाये ये रता मुनिका वदन्ति।

शुद्धात्म में स्थिति सही तप ही वही हो,
तो नश्यमान तन मे रुचि भी नहीं हो।
ऐसा न हो सुख नहीं दुख ही अतीव,
हैं वीतराग गुरु यो कहते सदीव।।४१।।

अर्थ– क्षणभगुर शरीर मे स्थित रहना–उसमे ममत्व रखना मुनि का तप नहीं है किन्तु निजात्मा में रहना तप है अन्यथा पीडा होती है ऐसा निकाय–स्वभाव मे स्थित मुनि कहते हैं।।४१।।

तापसोऽतो विनाऽशं तपनतापतापिततनुर्विनाशम्।
उद्गच्छतु भुवि ना शं विहाय विना शम्।।

अत तपनतापतापितात् तापस अश विना विनाश उद्गच्छतु
भुवि नाश विहाय विलम्बेन विना श (उद्गच्छतु)

आतापनादि तप से तन को तपाया,
योगी बना, बिन दया निज को न पाया।
पाया नहीं सुख कभी बहु दुःख पाया,
होता अहिंसक सुखीजिनदेव गाया।।४२।।

अर्थ – अत सूर्य के सताप से सतापित है शरीर जिसका ऐसा साधु दया के विना विनाश को प्र
हो पृथिवी पर मानव हिंसा को छोडकर विलम्ब के विना – शीघ्र ही धर्म कल्याण को प्राप्त हो।।४२

न याति लुञ्चिताङ्गज परीषहजयिनं श्री· कलिताङ्गजम्।
वहन्तमविभुताङ्गजं सतां स्तुतिंगताऽजिताङ्गजम।।

सता स्तुतिगत ! अविभुताङगज वहन्त लुञ्चिताङगज कलिताङगज
परीपहजयिन अजिताङगज श्री न याति।

दीखे परीषहजयी वह देखने में,
है लीन यद्यपि महाव्रत पालने में।
लक्ष्मी उसे तदपि है वरती न स्वामी,
जो मूढ है विषय लम्पट भूरिकामी।।४३।।

अर्थ– हे साधुस्तुत्य ! जो अविभुता रूप अङगज–रोग को धारण कर रहा है जिसने अगज–केशों का लोच किया है जो अगज–पसीना को धारण किये हुए है जो परीषहो को जीतने वाला है किन्तु अगज–काम को जिसने नहीं जीता है ऐसे साधु को वहिरग एव अन्तरग लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती।।४३।।

सतेति किं न वा सितं नैत्ययो रसाद्धेमतां वासितम्।
उपधिना न नु वासितं तपसोऽपि च सिततां वासितम्।।

[illegible]

लोहा सुवेष्ठित रहे यदि वस्त्र से जो,
होगा नहीं कनक पारस संग से ओ।
तो संग के सहित जो तप भी करेंगे,
ना आत्म को परम पूत बना सकेंगे।।४४।।

अर्थ – वस्त्र से वेष्टित लोहा रसायन से सुवर्णता को प्राप्त नहीं होता और परिग्रह से [illegible]-सहित द्वारा तप की उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता ऐसा क्या साधु ने नहीं जाना? ।।४४।।

यथा दहति सदागतिप्रेरितो वनजो वनं सदागतिः।
विधिततिमिति सदागतिः सदागतिष्वाह सदा गतिः।।

सदागतिप्रेरित वनज सदागति यथा वन दहति तथा (तप) विधितति
(दहति) इति सन्दागतिषु सदागति सदागति आह।

दावा यथा वनज हो वन को जलाता,
भाई तथा तप सही तन को जलाता।
सम्यक्त्व पूर्ण तप की महिमा यही है,
देवाधिदेव जिन ने जग को कही है।।४५।।

अर्थ – जिस प्रकार सदागति–वायु से प्रेरित वन की सदागति–अग्नि वन को जला देती है उसी प्रकार तप कर्मसमूह को जला देता है–इस प्रकार सदागति–मुनियों मे सदागति–ईश्वर स्वरूप सदागति–मुनि ने कहा है।।४५।।

दृशान्वितं विदो युक्तं सत् तपो गीयते स्वतः।
आशातीतं स्वदो व्यक्तं पूतधीर्गीर्यते सतः।।

आशा निवास जिसमे करती नहीं है,
सम्यक्त्वबोध युत जो तप ही सही है।
ऐसा सदेव कहती प्रभु सन्त वाणी,
तृष्णा मिटे, झटिति पी अति शीत पानी।।४६।।

अर्थ – हे पवित्र बुद्धि से युक्त जो सम्यग्दर्शन से सहित है सम्यग्ज्ञान से युक्त है और इसीलिये जो आशातीत–तृष्णा से परे है सुव्यक्त है वही उत्तम तप कहलाता है ऐसी साधु की वाणी है।।४६।।

साधोः समाधिकरणं सुखकरं गुणानामाधिकरणम्।
न कृतागमाधिकरणं करणोन ! नु कामाधिकरणम्।।

हे कृतागम करणोन ! सुखक्षर गुणानाम् आधिकरण कामाधिकरण
न आधिकरण च नु साधो समाधिकरण (अरित)।

साधू समाधि करना भव मुक्त होना,
पा कीर्ति पूजन गुणी बन दुःख खोना।
ऐसा जिनेश कहते शिवमार्गनेता,
वेत्ता बने जगत के मन अक्ष जेता।।४७।।

अर्थ– हे कृतागम ! आगम के रचयिता ! हे करणोन ! इन्द्रियविषयों से रहित! जो सुखकारी है गुणों का आधार है काम–मनोरथों का पूरक है और मानसिकव्यथा को करने वाला नहीं है वही साधु का समाधिकरण है–साधुरामाधि नामक भावना है।।४७।।

सर्वमन्यद् व्यलीकं ह्यदो विहाय विपश्चितां व्यलीकम्।
अताम्येतद् व्यलीकं कदाप्यनिच्छन् भुव्यलीकम्।।

विपश्चितां अदः विहाय हि अन्यद् सर्वं व्यलीकं व्यलीकं (अस्ति अतः)
भुवि अलीकं व्यलीकं कदापि अनिच्छन् एतत् अताम्यि।

ये आधि व्याधि समुपाधि सभी अनादि,
से आ रही, पर मिली न निजी समाधि।
चाहूं समाधि, नहिं नाक नहीं किसी को,
चाहें सभी चतुर चेतन भी इसी को।।४८।।

अर्थ – विद्वानों के लिए इस साधुसमाधि को छोडकर अन्य सब व्यलीक–अकार्य हैं अप्रिय हैं। मैं पृथ्वी पर मिथ्यास्वर्ग की इच्छा न करता हुआ इस साधुसमाधि को प्राप्त होता हूँ।।४८।।

योो मदादिं न मन्तुं मुञ्चति भुवीशो गन्तुं न मन्तुम्।
तदूनस्तं न मन्तुं जातु स्वमिच्छामि नमन् तुम्।।

य तदून (साधुसमाधिकरणविहीन) मदादि मन्तु न मुञ्चति (स)
मन्तु गतु न ईश स्व नमन तु मन्तु त जातु न इच्छामि।

मानी नहीं मुनि समाधि करा सकेगा,
तो वीरदेव निज को वह क्या? लखेगा।
सम्मान मै न उसका मुनि हो करूँगा,
शुद्धात्म को नित नितान्त अहो स्मरूँगा।।४६।।

अर्थ– जो साधुसमाधि से रहित हो अहकार आदि अपराध को नहीं छोडता है वह मन्तु–परमेष्ठी को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। स्वकीय आत्मा को नमन करता हुआ हैं उस चौरमानव–परपदार्थो को अपना मानने वाले मानव की कभी इच्छा नहीं करता।।४६।।

ततस्तदाप्त्यै भगतास्तिष्ठाम्यहमतिदूरं न तु भगतः।
एवास्यचलन् भगतः परमपदमपीह वृषभ ! गतः।।

तत तदाप्त्यै (साधुसमाधिकरणाय) अहं भगत अतिदूर तिष्ठामि न तु भगत
हे वृषभ! भगत अचलन् इह (त्वमपि) परमपद गत असि।

वैराग्य का प्रथम पाठ अहो पढाता,
पश्चात् प्रभो प्रथम देव बने प्रमाता।
मैं भी समाधि सधने बनता विरागी,
ऐसी मदीय मन मे वर ज्योति जागी।।५०।।

अर्थ – इसलिये उस साधुसमाधि की प्राप्ति के लिये मैं भग–यश से अतिदूर रहता हूँ, भग–वैराग्य से नहीं। हे वृषभजिनेन्द्र! भग–धर्म से विचलित न होते हुये आप भी परमपद को प्राप्त हुए हैं।।५०।।

पवनो गत· परागं मुनिमितमिदमिव शस्यतेऽपरागम्।
गता तव गीः परागं सुललनाकरलतेप ! रागम्।।

हे ईप ! पराग गत पवन पराग गता सुललनाकरलता तव ग गता (मम)
परा गी इव अपरागे मुनि इत इद (समाधिकरण) शस्यते।

लाली लगे करलता अति शोभती है,
शोभे जिनेन्द्रनुति से मम भारती है।
होता परागवश बात सुगन्धवाही,
शोभा तभी मुनि करे मुनि की समाधि।।५१।।

अर्थ– हे ईप ! हे लक्ष्मीपते ! जिस प्रकार पराग–पुष्परज को प्राप्त हुआ पवन पराग –मेंहदी की लाली को प्राप्त हुई सुन्दर स्त्री की करलता और आपके गीत–गुणगान को प्राप्त हुई मेरी वाणी प्रशसनीय है उसी प्रकार अपराग–वीतराग मुनि की प्राप्त हुई साधुसमाधि भावना प्रशसनीय है।।५१।।

भव्यकौमुददोषेशः कामधेनुः सुरागकः।
दिव्यविद्मुक्तिदोमेश मामटेन्नु तरां तु क।।

ऐ दिव्यविद्गुक्तिाद ! उमेश ! क ! भव्यकौमुददोषेश कामधेनु सुरागक (साधुसमाधिकरण) मा तरा अटेतु (निश्चये) तु (पादपूर्तों)।

है भव्यकौमुद शशी जगमें समाधि,
है कामधेनु सुर पादप से अनादि
कैसे मुझे यह मिले कब तो मिलेगी?
हे वीर देव ! कब ज्ञानकली खिलेगी।।५२।।

अर्थ– ऐ दिव्यज्ञान और मुक्ति के दाता ! हे कीर्ति के स्वामी ! हे ब्रह्मा–हे जिनेन्द्र ! भव्यरूप ! कुमुदसमूह को चन्द्रमा कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप यह साधुसमाधि मुझे निश्चय से अच्छी तरह प्राप्त हो।।५२।।

यथोद्यतमिह रोहितः सततं जगतां नु हिताय रोहितः।
वान्तस्वार्थरोहितः सत्सेवको भव परो हित

यथा इह रोहित जगता हिताय रोहित नु उद्यत तथा (त्वमपि)
वान्तस्वार्थरोहित (भवन्) (जगता) हित पर रात्सेवक भव।

राजा प्रजाहित करे पर स्वार्थ त्यागे,
देता प्रकाश रवि है कुछ भी न मांगे।
कर्तव्य मानकर तू कर साधु सेवा,
पाले पुन. परम पावन बोधमेवा।।५३।।

अर्थ–जिस प्रकार इस जगत् मे रोहित–वीर राजा जगत् जनो के हित के लिये उद्यत रहता है अथवा उगते हुए रोहित–सूर्य जगत् के हित के लिये तत्पर हैं उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू स्वार्थरूपी रुधिर को वान्त करता हुआ जगत् का हितकारी उत्कृष्ट सेवक हो।।५३।।

ममतमित-मुरः, कुमुदं तदूनमञ्चे न जितमनःकुमुदम्।
बन्धुरयति किं कुमुदं नलिनीदलनन्दनं कुमुदम्।।

तदून (साधुरोवाऽकरणशील) न अञ्चे (किन्तु) जितमन कुमुद मम उर कुमुद इत त (जिन)
अञ्चे, कि बन्धु कुमुद अयति? कि कुमुद नलिनीदलनन्दन अयति ? (नेत्यर्थ)

जो साधु सेवक नहीं उन मानियों को,
चाहूं न मैं, नित भजूं मुनि सज्जनो को।
क्या चाहता कृपण को परिवार प्यारा,
क्या प्यार से कुमुद ने रवि को निहारा।।५४।।

अर्थ– साधुसेवा से रहित मानव की मैं पूजा नहीं करता किन्तु मन के कुमुद–कुत्सित हर्ष –विषयानन्द को जीतने वाले अपने हृदय कुमुद मे आये उन जिनेन्द्र की पूजा करता हूँ। क्या बन्धु–कुटुम्ब परिवार कुमुद–कृपण मनुष्य के पास जाता है? अथवा कुमुद–कैरव सूर्य के पास जाता है। अर्थात नहीं।।५४।।

हरति दययाऽमा नत· प्रक्षन्नमनो न ! मनो मानतः।
यो मुनिगतामानतः स मुक्तिमेत्यघतोऽमानत ।।

हे अमन ! न ! य दयया अमा नत मानत मन प्रक्षन् मुनिगतामान
हरति (स) अत अमानत अघत मुक्ति एति।

जो पूर्ण पूरित दयामय भाव से है,
औ दूर भी विमलमानस मान से है।
सेवा सुसाधु जन की करता यहाँ है,
होता सुखी वह अवश्य जहाँ तहाँ है।।५५।।

अर्थ– हे अमन न ! हे भावमन से रहित जिनदेव ! जो दया के साथ नम्रीभूत तथा मान–गर्व से मन की रक्षा करता हुआ मुनियों के रोगों को हरता है–दूर करता है वह इसके फलस्वरूप अपरिमित पाप से मुक्ति पा जाता है।।५५।।

समौक्तिकोऽत्र कलिङ्गः कलितः कमनीयमणिना कलिङ्गः।
दुर्लभो भुवि कलिङ्गस्त्तथा युतोऽनेन सकलिङ्गः।।

यथा अत्र भुवि सगौक्तिक कलिङ्ग कमनीयमणिना कलित कलिङग दुर्लभ तथा
अनेन युत (वैयावृत्यान्वित) सकलिङग कलिङग दुर्लभ।

ये साधु सेवक कहीं मिलते यहाँ है,
जो जातरूप धरते जग में अहा है।
प्रत्येक नाग, मणि से कब शोभता है ?
प्रत्येक नाग कब मौक्तिक धारता है?।।५६।।

अर्थ–जिस प्रकार इस भूमि पर मोतियो सहित कलिडग–हाथी और सुन्दर मणि से सहित कलिड्ग–नाग दुर्लभ है उसी प्रकार इस वैयावृत्य से सहित सकलिडग–निर्ग्रन्थ–नग्नमुद्रा से सहित कलिग–चतुर जन दुर्लभ है।।५६।।

रतेन निजे पदे न न्विदं शोभते च वस्तुतोऽपदेन।
सरसिजं षट्पदेन पदेन जनपदोऽलं पदेन।।

हे न ! वस्तुत निजे पदे रतेन अपदेन नु इद शोभते। सरसिज षटपदेन
जनपद पदेन यथा (शोभते) पदेन अलम् (अस्तु)।

जैसा सरोज अलि से सबको सुहाता,
उद्योग से जगत में यश देश पाता।
वैसा विराग मुनि से यह साधु सेवा,
होती सुशोभित अतीव् विभो सदैवा।।५७।।

अर्थ – हे न ! पूज्य ! जिनवर ! यथाथत निज स्वभाव में लीन अपद–दिगम्बर–निर्ग्रन्थ साधु से ही यह वैयावृत्य सुशोभित होता है उस प्रकार जिस प्रकार कि षटपद–भ्रमर से कमल और पद–व्यवसाय–उद्योग से जनपद–देश सुशोभित होता है।।५७।।

श्रेयसा मनसा साधोः सेवा विधीयते मया।
जायतां मयि साऽबन्धोऽहं वा सुधीर्यते यया।।

हे यते ! श्रेयसा मनसा साधो सेवा मया विधीयते यया अह अबध,
मयि सा सुधी जायता वा (इतिगमानुगान सम्यक)।

मैं काय से वचन से मन से सदैवा,
सौभाग्य मान करता बुध साधु सेवा।
होऊँ अबन्ध भवबन्धन शीघ्र छूटे,
विज्ञान की किरण मानस मध्य फूटे।।५८।।

अर्थ– हे यते ! श्रेष्ठ मन से मेरे द्वारा साधु की सेवा की जावे जिस सेवा से मैं बन्धरहित हो जाऊ
और मुझ गे वह सुबुद्धि उत्पन्न हो सके।।५८।।

स्तुता यतिपतिना गता वस्तुगताश्च दशा गतानागता·।
निजं जयन्तु ना गता यद्धियं वाधां विना गताः।।

आगत गता अनागता च वस्तुगता दशा वाधा विना यद्धिय गता
(ते) ना ये निज गता यतिपतिना स्तुता जयन्तु।

बाधा बिना सहज से जिनसे निहारे,
जाते अनागत गतागत भाव सारे।
शुद्धात्म मे निरत जो जिनदेव ज्ञानी,
वे विश्व पूज्य जयवन्त रहें अमानी।।५६।।

अर्थ– अतीत अनागत और वर्तमान सम्बन्धी द्रव्यगत पर्यायें बिना किसी बाधा के जिनके ज्ञान में प्राप्त हैं जो निज स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं और यतिपति–गणधर देवो के द्वारा जो स्तुत हैं वे जिनेन्द्र जयवन्त हों।।५६।।

श्रेयसा मनसा साधोः सेवा विधीयते मया।
जायतां मयि साऽबन्धोऽह वा सुधीर्यते यया।।

हे यते ! श्रेयसा मनसा साधो सेवा मया विधीयते यया अह अबन्ध,
मयि सा सुधी जायता वा (इतिममानुमान सम्यक)।

मैं काय से वचन से मन से सदैवा,
सौभाग्य मान करता बुध साधु सेवा।
होऊँ अबन्ध भवबन्धन शीघ्र छूटे,
विज्ञान की किरण मानस मध्य फूटे।।५८।।

अर्थ– हे यते ! श्रेष्ठ मन से मेरे द्वारा साधु की सेवा की जावे जिस सेवा से मैं बन्धरहित हो जाऊ
और मुझ मे वह सुबुद्धि उत्पन्न हो सके।।५८।।

स्तुता यतिपतिना गता वस्तुगताश्च दशा गतानागताः।
निजं जयन्तु ना गता यद्धियं वाधां विना गताः।।

आगता गता अनागता च वस्तुगता दशा बाधा विना यद्धिय गता
(ते) ना ये निज गता यतिपतिना स्तुता जयन्तु।

बाधा बिना सहज से जिनसे निहारे,
जाते अनागत गतागत भाव सारे।
शुद्धात्म में निरत जो जिनदेव ज्ञानी,
वे विश्व पूज्य जयवन्त रहें अमानी।।५६।।

अर्थ– अतीत अनागत और वर्तमान सम्बन्धी द्रव्यगत पर्यायें बिना किसी बाधा के जिनके ज्ञान मे प्राप्त हैं जो निज स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं और यतिपति–गणधर देवो के द्वारा जो स्तुत हैं वे जिनेन्द्र जयवन्त हो।।५६।।

खगणः कामहा ! लयं त्वयेत इन इतोसि दृड्महालयम्।
श्रिया तया महालयं कुरुषेऽये त्वात्र महालयम्।।

हे कामहा ! अत्र त्वया खगण लय इत (अत) दृढमहालय इत असि
तया श्रिया महालय कुरुषे (अत) इन असि (अत) त्वा महालय (अह) अये।

हो पूर्ण इन्द्रियजयी जितकाम आप,
पाके अन्त सुख को तज पापताप।
क्रीडा सदैव करते शिवनारि साथ,
जोड़ूँ तुम्हें सतत हाथ, अनाथ-नाथ।।६०।।

अर्थ– हे मदनविजयिन् ! इस जगत् मे आपके द्वारा खगण–इन्द्रियो का समूह लय–विनाश को प्राप्त हुआ है अत आप सम्यग्दर्शन रूप महाभवन को प्राप्त हैं। आप उस–अनिवर्चनीय मोक्षलक्ष्मी के साथ आलिङ्गन करते हैं अत आप इन– स्वामी हैं। इसीलिये महालय–उत्सवो के आलय स्वरूप आपको प्राप्त होता हूँ।– आपकी शरण मे आता हूँ।।६०।।

दक्षो दूरोऽक्षरतोऽतितापात् क्षितिं स्त्रवत् क्षरं क्षरतः।
तथा मामिहारक्षरतो न रक्षरक्षाभरोऽक्षरत.।।

(यथा) इह क्षरत स्त्रवत् क्षर अतितापात् क्षिति (रक्षति) तथा (त्व)
अक्षरत दूर दक्ष न अक्षरत अक्षरत आक्षर मा रक्ष रक्ष।

पीयूष पावन पवित्र पयोद धारा,
ज्यों तृप्त भूमि तल को करती सुचारा।
त्यों शान्ति दो दुखित हूँ भवताप से जो,
है प्रार्थना मम विभो ! बस आप से यों।।६१।।

अर्थ– जिस प्रकार मेघ से झरता हुआ पानी तीव्र तपन से पृथिवी की रक्षा करता है उसी प्रकार अक्षरतो दूर–अक्षरों से दूर रहने वाले–वचनागोचर दक्ष–समर्थ अथवा चतुर न अक्षरत इन्द्रियो में अनासक्त अक्षरत–आत्मरत और अक्षर–अविनाशी आप मेरी रक्षा करें रक्षा करें।।६१।।

मोहोरगरसायनं मुक्तेर्यद् दर्शितमुरसाऽयनम्।
यजेऽलं च रसायनं निरञ्जन नं स्वरसाय नम्।।

मुक्ते अयन यद्दर्शित मोहोरगरसायन निरजन न
न स्वरसाय उरसा यजे (किन्तु) रसाय अलम्।।

हो मोह सर्प, तुम हो गरुडेन्द्रनामी,
हो मुक्तिपन्थ-अधिनायक, हो अमानी।
स्वामी, निरञ्जन, न अञ्जन की निशानी,
पूजूँ तुम्हें बन सकूँ द्रुत दिव्यज्ञानी।।६२।।

अर्थ– मुक्ति का मार्ग जिसने दिखाया है जो मोहरूपी सर्प को रसायन–गरुड हैं कर्मकालिमा रहित हैं और पूज्य हैं ऐसे जिनेन्द्र की मैं आत्मप्रीति के लिये–स्वान्त सुखाय हृदय से पूजा करता हूँ। रस–इन्द्रियसुख मेरे लिये अपेक्षित नहीं है।।६२।।

स्वीयं मनो जहार गुणमणिमयं पुनर्मनोऽज ! हारम्।।
गतोऽस्ति मनोजहाऽरं न नंक्षति मेऽमनोऽज। हारम्।।

हे मनोजहा। अमन मनो । अज । अज । (भगवान्) स्वीय मन जहार पुन
गुणमणिमय हार गत अस्ति (इति हेतो) मे र अर कि न नक्ष्यति? हा।

है आदि में स्वमन को फिर मार मारा,
हे आदिनाथ ! तुमने तज भोग सारा।
कामारि हो इसलिये जग में कहाते,
स्वामी ! सुशीघ्र मम क्यो न व्यथा मिटाते ।।६३।।

अर्थ– हे मनोजहा । कामविनाशक । हे मनोव्यापार से रहित । हे अज । जन्मातीत । हे अज । आदिजिनेन्द्र । आपने अपने मन का हरण किया–उसे स्वाधीन किया है फिर गुणरूपी मणियों से निर्मित हार–कण्ठाभूषण को प्राप्त हुए हो इसलिये मेरा दुःख अथवा कामाग्नि शीघ्र क्यो नहीं नष्ट होगी? अवश्य होगी।।६३।।

अन्तं गतं ह्यनन्तं तं मानापहं यजेऽप्यजम्।
शान्तं चान्त जिनं कान्तं येनाऽयेऽहं निजे निजम्।।

अता गता शाता अता आन्ता काता माााए अज अपि च
त जिा अा यजे यो ि िजि ाजि अये।

वे शान्त, सन्त, अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
बन्दूँ उन्हें निरभिमान स्वभाव धाता।
होऊँ प्रवीण फलतः पल में प्रमाता,
गाता सुगीत 'जिनका' वह सौख्यपाता।।६४।।

अर्थ– जो अत्त–स्वभाव को प्राप्त हैं शान्त हैं, अन्त–विशुद्ध हैं, अनन्त–अन्तारहित हैं कान्त–सुन्दर हैं मान को नष्ट करने वाले हैं और अज–जन्मरहित हैं, उन जिनदेव की मैं पूजा करता हूं जिससे निज में निज को प्राप्त हो रहूं।।६४।।

काञ्चिदिच्छां भवनतः करोति दरमसितविदाभ ! वनत.।
निजे लयो भवन्नतः सूरयेऽयि तस्मै भव नत·।।

अयि असितविदाभ। य निजे लय भवन् वनत दर न करोति भवनत काञ्चित्
इच्छा (न करोति) तस्मै सूरये त्व नत भव।

इच्छा नहीं भवन की रखते कदापि,
आचार्य ये न वन से टरते प्रतापी।
होते विलीन निज में विधि पक धोते,
पूजो इन्हे समय क्यों तुम व्यर्थ खोते।।६५।।

अर्थ– अयि असितविदाभ ! जिसके ज्ञान की आभा मलिन है ऐसा है अज्ञानजन ! जो निज स्वरूप मे लीन होते हुये वन से भय नहीं करते और भवन मे कोई इच्छा नहीं करते उन आचार्य के लिये तू विनत हो–उनकी भक्ति कर।।६५।।

स्वयमनुसमयञ्चरति परान् चारयति च न परे विचरति।
मुञ्चत्यरतिञ्चरतिमस्तु मम तत्पादयोश्च रतिः

य सूरि स्वय अनुरामय चरति परान् चारयति च परे न विचरति
अरति रति च मुञ्चति तत्पादयो मम रति च अस्तु।

शास्त्रानुसार चलते सबको चलाते,
पाते स्वकीय सुखको पर मे न जाते,
ये रागरोष तजते सबकी उपेक्षा,
मै तो अभी कुछ रखूँ उनकी अपेक्षा।।६६।।

अर्थ – जो आचार्य स्वय शास्त्रानुसार आचरण करते हैं। दूसरो को आचरण कराते हैं परद्रव्य में विचरण नहीं करते हैं और अप्रीति तथा प्रीति को छोडते हैं उनके चरणो मे मेरी प्रीति हो।।६६।।

रजोगतमिव लोचकं लोचकः संगत मुनिपालो च कम्।
मत्वात्र मालोचकं सुविदा रक्ष कृपालो चकम्।।

उ ! मुनिपाल ! क रागत कृपालो ! मा लोचक च क मत्वा सुविदा रक्ष
अत्र रजोगत लोचक लोचक इव।

आचार्यदेव मुझको कुछ बोध देवो,
रक्षा करो शरण में शिशु शीघ्र लेवो।
क्या दिव्य अञ्जन प्रकाश नहीं दिलाता,
क्या शीघ्र नेत्रगत धूलि नहीं मिटाता ?।।६७।।

अर्थ– हे मुनिपाल् मुनियों के रक्षक ! क–सुख अथवा आत्मा को प्राप्त ! दयालो आचार्य ! मुझ निर्बुद्धि को आत्मा मान कर सम्यग्ज्ञान से मेरी उस प्रकार रक्षा करो जिस प्रकार धूलि से युक्त नेत्र की कज्जल रक्षा करता है।।६७।।

योगैश्च धाराधरः सुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः।
दुरितविषधाराधरः सज्जनमयूरधाराधरः।।

(अय सूरि) दुरितविषधाराधर, सज्जनमयूरधाराधर
कुविधिध्वसधृतधृतिधाराधर योगै च धाराधर (अस्ति)।

ये योग में अचल मेरु बने हुए है,
ले खड्ग कर्मरिपु को दुख दे रहे है।
आचार्य तो अमृतपान करा रहे हैं,
ये मेघ है, हम मयूर सुखी हुए है।।६८।।

अर्थ– यह आचार्य पापरूपी विष की धारा को धारण करने वाले नहीं हैं, सज्जन रूपी मयूरो के लिये धाराधर–मेघ हैं दुष्ट कर्मों का विध्वस करने के लिये जिन्होने धैर्य रूपी खडग को धारण किया है और ध्यान के द्वारा धाराधर–पर्वत हैं अर्थात् ध्यान धारण करने में पर्वत के समान स्थिर हैं।।६८।।

यो ज्येष्ठमासगतप्रतापिनः प्रताप्यपि मासं गतः।
गत. स्वे वासं गतः स निस्पृहो जयतात् संगत.।।

ज्येष्ठमारागतप्रतापिन अपि प्रतापी गारागता स्वे वास
गत राङगता निस्पृहो य स (सूरि) जयतात्।

हो ज्येष्ठ में नित नहीं रवि ओ प्रतापी,
संतप्त पूर्ण करता जग को कुपापी।
आचार्य कोटि शत भास्कर तेज वाले,
देते सदा सुख हमे समदृष्टि वाले।।६६।।

अर्थ – जो ज्येष्ठमारा के सूर्य से भी अधिक प्रतापी हैं दीप्तिमान् हैं स्वकीय आत्मा में निवास को प्राप्त हैं और परिग्रह से नि:स्पृह हैं वे आचार्य जयवत रहे।।६६।।

आचार्यस्य सदा भक्तिं भक्त्या ह्यये करोमि ताम्।
वै चार्यस्य मुदा शक्तिं युक्त्याऽप्यये गुरोऽमिताम्।।

अयि गुरो ! [illegible] आचार्यस्य भक्तिं भक्त्या सदा हि करोमि
वै युक्त्या मुदा तां अमितां शक्तिं अपि च अयो।

आचार्य को विनय से उर में विठालूँ,
मैं पूज्यपाद रज को शिरपै चढा लूँ।
हे मित्र ! मोक्ष मुझको फलतः मिलेगा,
विश्वास है यह नियोग नहीं टलेगा।।७०।।

अर्थ – हे गुरो ! मैं पूज्य आचार्य की भक्ति सदा उत्कट अनुराग से करता हूँ। निश्चित ही उनके सम्पर्क से मैं हर्षपूर्वक उस अपरिमित शक्ति को प्राप्त हो रहा हूँ।। ७०।।

विदामिहाहं रमतिः कदाप्येति न मदमिति मुधा रमतिम्।
स्वस्मिन् स्मरति विरमति स्मरतु तं तु ते ह्युदारमतिः।।

इह भुवि अह विदा रमति इति कदापि मुधा मद न एति। (स उपाध्यायपरमेष्ठी) रमति न स्मरति स्वस्मिन् विरमति ते उदारमति त हि स्मरतु तु पादपूर्तौ।

ज्ञाता बने समय के निज-गीत, गाते,
तो भी कदापि मद को मन में न लाते।
वे ही अवश्य उवझाय वशी कहाते,
भाई उन्हे स्मरण मे तुम क्यों न लाते।।७१।।

अर्थ – 'इस पृथ्वी पर मैं ज्ञानों का स्वामी हूँ इस प्रकार के व्यर्थ मद को जो कभी नहीं प्राप्त होते जो स्वर्ग का स्मरण नहीं करते तथा अपने आप में विश्राम करते हैं उन उपाध्याय परमेष्ठी का तेरी उदार बुद्धि निश्चय से स्मरण करे।।७१।।

कृतमदममतापचितिर्यस्मादाप्तनिजानुभवोपचितिः।
तस्य ह्यपपाप ! चिति स्थितये क्रियते मयाऽपचितिः।।

य (उपाध्यायपरमेष्ठी) कृतमदममतापचितिः यस्माद् आप्त – निजानुभवोपचितिः
तस्य हि हे अपपाप ! चिति स्थितये मया अपचितिः क्रियते।

कालुष्यभाव रतिराग मिटा दिया है,
आत्मावलोकन तथा जिनने किया है।
पूजूँ भजूँ नित उन्हें दुख को तजूँगा,
विज्ञान से सहज ही निज को सजूँगा।।७२।।

अर्थ – जो मद और ममता की हानि करने वाले हैं तथा जिन्होंने आत्मानुभव की वृद्धि को प्राप्त किया है हे निरवद्य साधो ! आत्मा में स्थिरता प्राप्त करने के लिये मेरे द्वारा उन उपाध्याय परमेष्ठी की पूजा की जाती है।।७२।।

'सकलङ्कः स मितितयाऽभयाञ्चित एणाङ्को भसमितितया।
अकलङ्क· समितितयाऽऽहेतो वरः सुरसमिति-तया।।

स एणाङ्क भयाञ्चित मितितया भया अञ्चित भसमितितया (अञ्चित)
(अत) सकलङ्क (अय उपाध्यायपरमेष्ठी) अकलङक तया समितितया (अञ्चित) अभयाञ्चित
(तथा) सुरसमितितया अञ्चित (अत) वर इति सुरस इत (जिन आह)।

तारा समूह नभ में जब दीख जाता,
दोषी शशी न दिन में निशि में सुहाता।
पै दोष मुक्त उवझाय सदा सुहाते,
ये श्रेष्ठ इष्ट शशि से जिन यों बताते।।७३।।

अर्थ – वह चन्द्रमा भय से अञ्चित – सहित है तथा सीमित भा – कान्ति से अञ्चित है नक्षत्रों के समूह से अञ्चित है अत सकलक है परन्तु यह उपाध्याय परमेष्ठी निर्भय हैं असीमित आत्मज्ञानरूपी दीप्ति से सहित हैं निष्कलक हैं और देवसमूह से अचित – पूजित हैं अत श्रेष्ठ हैं ऐसा सुरस को प्राप्त जिनदेव ने कहा है।।७३।।

परपरिणतेरवनितः स्वात्मानं स्वागमं योऽवन्नितः।
तेनाप्यते ह्यवनित - द्रव्यमुरसि निजमृषिभिर्वनित।।

हे ऋषिभि उरसि वनित । य परपरिणते अवनित स्वात्मान अवन्
स्वागम इत तेन निज अवनितद्रव्य आप्यते।

स्वाध्याय से चपलता मन की घटा दी,
काषायिकी परिणती जिनने मिटा दी।
पावें सुशीघ्र उवझाय स्वसंपदा वे,
आवें न लौट भव में गुरु यों बतावें।।७४।।

अर्थ – ऋपि समूह जिसे हृदय मे धारण करते हैं ऐसे हे प्रभो ! जो परपरिणति की भूमिस्वरूप कपायगाव से स्वकीय आत्मा की रक्षा करत हुये उत्तम आगम को प्राप्त हुए हैं उन उपाध्याय के द्वारा स्वत सिद्ध आत्मद्रव्य प्राप्त किया जाता है।।७४।।

निशापतिर्नालीकं तोषयति नायं गवा नालीकम्।
निष्पक्षोऽनालीकं कोऽमुं न मनुतेऽनालीकम्।।

निशापति न नालीक तोषयति अय तु (उपाध्याय) निष्पक्ष नालीक अनालीक
गवा (तोषयति) (ईदृक्कार्ये) क अनालीक अमु न मनुते?

साथी बना कुमुद का शशि पक्षपाती,
भाई सरोज दल का वह है अराती।
पै साम्यधार उवझाय सुखी बनाते,
हैं विश्व को, इसलिये सबको सुहाते।।७५।।

अर्थ – चन्द्रमा गो–किरणों से नालीक कमल को सतुष्ट नहीं करता परन्तु यह उपाध्याय निष्पक्ष हो नालीक – अज्ञ और अनालीक – विज्ञ को अपनी गो अर्थात् वाणी से सतुष्ट करते हैं। इस प्रकार के कार्य मे उन्हे कौन प्रिय नहीं मानता?।।७५।।

वैद्यो रोगविनाशीव ह्ययं कामविदारकः।
वन्द्योऽतोऽङ्ग ! जनाना वः स्वयं कामप्रदायकः।।

ऐ अङग । रोगविनाशी वैद्य इव हि अय (उपाध्यायपरमेष्ठी) कामविदारक
स्वय कामप्रदायकः अत व जानाना वद्य (अस्ति)।

वे वैद्य लौकिक शरीर इलाज जाने,
ये वैद्यराज भवनाशक हैं सयाने।
हैं वन्द्य, पूज्य, शिवपन्थ हमें बताते,
निःस्वार्थपूर्ण निज जीवन को बिताते।।७६।।

अर्थ – अ ङग । हे भव्यजनो । रोग को नष्ट करने वाले वैद्य के समान यह उपाध्याय परमेष्ठी काम – मदन अथवा क – आत्मा क अम – रोगो के विदीर्ण करने वाले और काम–मनोरथो के देने वाले हैं अत आप सब के वन्दनीय हैं।।७६।।

तं जयताज्जिनागमः श्रय श्रेयसो न येन विना गमः।
न हि कलयति मनागगस्त्वां मदो यद् भवेऽनागम.।।

येन विना श्रेयस गम न (स) जिनागम जयतात् त (जिनागम) (त्व) श्रय
यत् त्वा मद अग मनाक न हि कलयति (तदा स्वय) भवे अनागम (स्यात्)।

था, है जिनागम, रहे जयवन्त आगे,
पूजो इसे तुम सभी उरबोध जागे।
पावो कदापि फिर ना भवदु:ख नाना,
हो मोक्षलाभ, भव में फिर हो न आना।।७७।।

अर्थ – जिसके बिना श्रेय–मोक्ष अथवा कल्याण का मार्ग नहीं मिलता वह जिनागम जयवत रहे। तू उस जिनागम का आश्रय ले जिससे तुझे अल्प भी अहकार प्राप्त न हो और यह सब होने पर तेरा ससार मे आगमन नहीं हो।।७७।।

अन्येनालं मधुना वनं विविधतरुलतान्वितं मधुना।
मुदमेति यथा मधुना ममात्मानेन चायमधुना।।

विविधतरुलतान्वित वन यथा मधुना मुद एति (तथा) मम अय आत्मा
अधुना मधुना (अनेन) (जिनागमेन) मद एति च (अत) अन्येन
(विषयवासनाप्रवर्धककामादिशास्त्रेण) मधुना अल (अस्तु)।

आता वसन्त वन में वन फूल जाता,
नाना प्रकार रस पी दुख भूल जाता।
पीऊँ जिनागम सुधा चिरकाल जीऊँ,
दैवादि शास्त्र मदिरा उसको न पीऊँ।।७८।।

अर्थ – अनेक प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त वन जिस प्रकार मधु–वसन्त से हर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार मेरा यह आत्मा इस समय जिनागम रूप मधु–दूध से हर्ष को प्राप्त हो रहा है। इसलिये अन्य विषयवासना को बढ़ाने वाले कामादिशास्त्र रूप मधु–मद्य की मुझे आवश्यकता नहीं।।७८।।

श्रयति श्रमणः समयं समगनसा समयति स समं समयम्।
समेति निजवासमयं विस्मयोऽस्त्विह नो चिरसमयम्।।

य श्रमण रामगनसा सम समय श्रयति स समय रामयति, निजवारा रामेति
रा इह (भवे) चिरसमय नो अरतु (अस्मिन् कार्ये) अय विस्मयोऽपि नो अरतु।

निष्पक्ष हो श्रमण आगम देखता है,
शुद्धात्म को सहज से वह जानता है।
जाके निवास करना निज धाम में ओ,
संदेह विस्मय नहीं इस काम में हो।।७६।।

अर्थ – जो मुनि मध्यरथ–दुराग्रहरहित गन के साथ समय–आगम का आश्रय लेता है वह समय – आत्मा को प्राप्त होता है और वह इस ससार मे चिररामय – दीर्घकाल ताक नहीं रहे, यह आश्चर्य नहीं है।।७६।।

मुक्तास्ते प्रभावतः सभवन्ति जिना जनाश्च भावतः।
रागादेर्विभावतस्त्वयि रतोऽकलये विभावतः।।

(हे जिनागम !) ते प्रभावत जना जिना सभवन्ति। भावत मुक्ता सभवन्ति
रागादे विभावता च (मुक्ता सभवन्ति) अत अकलय विभौ त्वयि (अह) रत (भवामि)।

आधार ले अयि ! जिनागम पूर्ण तेरा,
हैं भव्य जीव करते शिव में बसेरा।
मैं भी तुझे इसलिये दिन रैन ध्याऊँ,
धारूँ तुझे हृदय में सुख चैन पाऊँ।।८०।।

अर्थ – हे जिनागम ! तेरे प्रभाव से सामान्य मनुष्य जिन हो जाते हैं भव से मुक्त हो जाते हैं और रागादिक विभाव से छूट जाते हैं, अत अकलय – दुःख का विनाश करने वाले तुझमें रत लीन होता हूँ।।८०।।

दुःखमनुभवन्नवसु ह्यनधिगतागमोऽयं निधिषु नवसु।
प्राप्तवान् सुखं नवसुभानतो विमलज्ञानवसु।।

अय आधिगतागम असुमान् हि नवसु निधिषु अवसु दुःख
अनुभवन् विमलज्ञानवसु सुख अत नो प्राप्तवान्।

ज्ञाता नहीं समय का दुख ही उठाता,
औ ना कभी विमल केवलज्ञान पाता।
राजा भले वह बने, निधि क्यों न पाले,
भाई न खोल सकता वह मोक्ष ताले।।८१।।

अर्थ – जिनागम को नहीं जानने वाला प्राणी निश्चय से नौ निधियों के रहने पर भी अवसुदुःख– निर्धनता के दुःख का अनुभव करता हुआ निर्मल ज्ञानरूपी धन के सुख को इसी कारण प्राप्त नहीं कर सका है।।८१।।

जिनागमं सदा श्रित्वा सादरं समतां व्रजेत्।
यन्ना समं विदा मुक्त्वा वादरं स नतां भजेत्।।

ना जिनागम श्रित्वा सादर समता व्रजेत् (चेत्) यत् स दर मुक्त्वा
विदा सम नता भजेत् (वा निश्चयो)।

श्रद्धासमेत जिन आगम को निहारें,
जो भी प्रभो ! हृदय में समता सुधारे।
वे ही जिनेन्द्र पद का द्रुत लाभ लेते,
संसार का भ्रमण त्याग विराम लेते।।८२।।

अर्थ – यदि मनुष्य आदर से जिनागम का आश्रय ले साम्यभाव को प्राप्त हो तो वह दर–भय छोडकर ज्ञान के साथ नता – पूज्यता अथवा जिनेन्द्र–तीर्थडकर पद को प्राप्त हो सकता है यह निश्चय है।। ८२।।

निर्दोषो भुवि सुरभिः सज्जनकण्ठमेति गुणेन सुरभिः।
तथेह समता सुरभिर्न च सुरभीति नाम्ना सुरभिः।।

यथा इह भुवि निर्दोष सुरभि गुणेन सुरभि सुरभीति नाम्ना सुरभि सज्जनकण्ठ एति
तथा च समता (सज्जनकण्ठ एति) न सुरभि (सज्जनकण्ठ एति)।

हो सूत्र मे कुसुम सज्जन कण्ठ जाता,
निर्दोष ही कनक आदर नित्य पाता।
जैसी समादरित गाय सुधी जनों से,
वैसी सदैव समता मुनि सज्जनों से।।८३।।

अर्थ – जिस प्रकार इस पृथिवी पर निर्दोष सुरभि–स्वर्ण अपने गुण से हार बनकर सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है, सुरभि–चम्पा गुण–सूत्र मे गुम्फित हो सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है और 'सुरभि' इस नाम से प्रसिद्ध सुरभि–कामधेनु मनोरथों को पूर्ण करने वाले गुणों से सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है उसी प्रकार समता–साम्य परिणति सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है सुरभि–मदिरा नहीं।।८३।।

असमयवर्षास्तमितं धान्यं वसुधातलममनस्तमितम्।
फलति न कमपि स्तमितं ह्यकालिकीनुतिरकारस्त! मितम्।।

हे अकारस्त ! अमन। असमयवर्षास्तमित त वसुधातालम् इत धान्य यथा न फलति
(तथा) हि अकालिकी नुति स्तमित मित क अपि न (फलति)।

वर्षा हुई कृषक तो हल जोत लेगा,
बोया असामयिक बीज नहीं फलेगा।
तू देव वन्दन अकाल अरे ! करेगा,
होगा न, मोक्ष तुझको भव में फिरेगा।।८४।।

अर्थ – हे अकारस्त ! हे निष्पाप ! हे अमन ! मनो व्यापार से रहित ! जिस प्रकार असमय की वर्षा से भीगे पृथिवीतल को प्राप्त हुआ धान्य फलता नहीं है उसी प्रकार निश्चय से अकाल–असमय मे की हुई स्तुति किञ्चित् भी स्थायी सुख को नहीं फलती है।।८४।।

अशने सदंशनेन रस इनेन जयो वै सदंशनेन।
प्राप्यतेऽदंशनेन तथा कमगेनाऽदंशनेन।।

हे अदश ! न ! इन ! यथा अशने सदशनेन रस प्राप्यते सदशनेन
इनेन वै जय (प्राप्यते) तथा अदशनेन अगेन क (प्राप्यते)।

राजा सशस्त्र रण से जय लूट लाता,
हो दाँत, भोजन करो अति स्वाद आता।
सम्यक् जिनेन्द्रनुति भी सुख को दिलाती,
भाई निजानुभव पेय पिला जिलाती।।८५।।

अर्थ – हे अदश ! हे निर्दोष ! हे पूज्य ! स्वामिन ! जिस प्रकार भोजन में दन्तसहित मनुष्य के द्वारा रस – स्वाद प्राप्त किया जाता है और कवच सहित राजा के द्वारा निश्चयत विजय प्राप्त की जाती है उसी प्रकार अखण्ड स्तवन से सुख प्राप्त किया जाता है।।८५।।

अवनितल इव पावनप्रसंगाद् भवति शीतलः पावनः।
अघहननात् स्वपावनप्रदायिन्नुपयोगः पावनः।।

[illegible]
[illegible]

ज्यों वात जो सरित ऊपर हो चलेगा,
हो शीत, शीघ्र सब के मन को हरेगा।
आख्यान अन्त प्रति के बल पा, विधाता,
आत्मा अवश्य बनता सुख पूर्ण पाता।।८६।।

अर्थ – हे स्वप ! हे आत्मरक्षक ! हे संरक्षण देने वाले ! भगवन् ! इस पृथिवीतल पर पावन – जल की संगति से जिस प्रकार पावन–वायु शीतल हो जाती है उसी प्रकार शास्त्र के म[illegible] से उपयोग पावन–पवित्र हो जाता है।।८६।।

सा श्रेयसः कषायात् प्रियाऽलसाशोषाया सकषाया।
लसतु तामसकषायान्न कतपनममानसकषायाः।।

हे अमानसकषाया ! सा अलसा प्रिया श्रेयस कषायात् लसतु, उषाया सा आशा (प्राक्) सकषाया (लसतु) (किन्तु) कतपन तामसकषायात् न (लसतु)।

प्राची प्रभात जब रागमयी सुहाती,
तो अंगराग लगता वनिता सुहाती।
पै राग से समनुरंजित कायक्लेश,
होता सुशोभित नहीं सुख हो न लेश।।८७।।

अर्थ – हे अमानसकषाया ! जिनके मन मे कषाय नहीं है ऐसे हे मुनीजनो ! वह अलसायी स्त्री श्रेष्ठ कषाय–अङ्गराग से सुशोभित हो और प्रभातकाल मे वह प्रसिद्ध पूर्व दिशा सकषाया –लालिमा से सहित होती हुई सुशोभित हो परन्तु तमोगुण प्रधान कषायभाव से कतपन–पञ्चाग्नितप सुशोभित न हो (वह कुतप–बालतप है)।।८७।।

दुर्वेदनात्मनो यातु लयतां त्वयि सा स्वतः।
संवेदनाऽत्मनो जा तु जायतां त्वय्यसावतः।।

[illegible]

दुर्वेदना हृदय की क्षण भाग जाती,
संवेदना स्वयम की झट जाग जाती।
ऐसी प्रतिक्रमण की महिमा निराली,
तू धार शीघ्र इसको वन भाग्यशाली।।८८।।

अर्थ – अयि मित्र ! आप मे जो यह स्वानुभूति स्वतः समुद्भूत हुई है वह इस प्रतिक्रमण – आवश्यक से उत्पन्न हो और इसी से आत्मा की वह दुःखद वेदना विनाश को प्राप्त हो।।८८।।

भवता निजानुभवतः प्रभो· प्रभावना क्रियतां हि भवतः।
मनोऽवन् मनोभवतः क्षणविनाशविभावविभवतः।।

भवत क्षणविनाशविभावविभवत मनोभवत मन अवन्
निजानुभवत हि भवता प्रभो प्रभावना क्रियताम्।

भाई सुनो मदन से मन को बचाओ,
संसार के विषय में रुचि भी न लाओ।
पाओ निजानुभव को निज को जगाओ।
सद्धर्म की फिर अपूर्व प्रभावना हो।।८६।।

अर्थ – ससार से क्षणभगुर विभाव रूप विभव से तथा मनोभव–काम से मन की रक्षा करते हुए आपके द्वारा निजानुभव से प्रभु–जिनेन्द्र की प्रभावना की जावे।।८६।।

सागारकोऽप्यसारं क्षुत्तृड्रुजार्तेषु वितरति सारम्।
मत्वा किल संसारं ह्यवतरति तत् कार्ये साऽरम्।।

(यदा) सागारक अपि किल संसार (सार च) असार मत्वा क्षुत्तृड्रुजार्तेषु सार
वितरति (तदा) तत्कार्ये (प्रभो प्रभावना) सा अर हि अवतरति।।

संसार के विभव वित्त असार सारे,
सागार भी सतत यो मन में विचारे।
रोगी दुखी क्षुधित पीडित जो विचारें,
दे, अन्नपान उनके दुख को निवारें।।६०।।

अर्थ – जो गृहस्थ भी ससार को असार मान कर भूख प्यास तथा रोग से पीडित मनुष्यों पर धन वितरण करता है तब उस कार्य मे यह प्रभावना – शीघ्र अवतीर्ण होती है। दीन दुखी जीवो पर दयादृष्टि से दान देना भी जिन धर्म की प्रभावना होती है।।६०।।

शिष्याः स्युस्तके तव शशिशितवृषयशः प्रसारकेतवः।
दृग्विद्चरितकेतवः कुमतवनाय धूमकेतवः।।

हे ! (जिन !) तव तके शिष्या शशिशितवृषयश प्रसारकेतव
कुमतवनाय धूमकेतव दृग्विदचरितकेतव च स्यु ।

हे वीर देव ! तब सेवक धर्म सेवें,
होवें ध्वजा विमल धर्म प्रसार में वे।
सम्यक्त्व बोध व्रत से निजको सजावें
ज्वाला बनें कुमत कानन को जलावे।।६१।।

अर्थ – हे जिन ! आपके वे शिष्य चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का प्रसार करने के लिये केतु–पताका, मिथ्यामतरूप वन के लिये धूमकेतु–अग्नि और दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप केतु – चिन्हो से सहित होवे।।६१।।

भायाच्च तमां केन सरो रमाभालं कुड्कुमाड्केन।
नानया समां केन श्रमणता गतेन मां के न! ।।

हे न रमाभाल कुड्कुमाड्केन सर केन के केन साधु मा गतेन श्रमणता
ना आत्मा (धर्मप्रभावनया) च भायात् समाम्।

अच्छा लगे तिलक से ललना ललाट,
है साम्य से श्रमणता लगती विराट।
होता सुशोभित सरोवर कंज होते,
सद्भावना वश मनुष्य प्रशस्य होते।।६२।।

अर्थ – हे न ! हे जिन ! ललना का ललाट कुंकुम के चिह्न से सरोवर जल से श्रमणता साधुता आत्मा में साम्यभाव रूपी लक्ष्मी को प्राप्त आत्मा से और मनुष्य इस धर्मप्रभावना से अत्य सुशोभित हो।।६२।।

गड्का गौश्च वामृतं ददातिगड्गयालमपि गवाऽमृतम्।
अस्यो मानवामृत मिलति वरं चिदनुभवामृतम्।।

हे मानव। गङ्गा गौश्च अमृत ददाति (तत) गङ्गया गवा अपि अल (किन्तु) अस्या (धर्मप्रभावनाया) अमृत अमृत वर चिदनुभवामृत च मिलति।

गंगा प्रदान करती बस शीत पानी,
तो गाय दूध दुहती जग में सयानी।
चाहूँ इन्हें न, इनसे न प्रयोजना है,
देती निजामृत जिनेन्द्र प्रभावना है।।६३।।

अर्थ – हे मानव। गगा और गौ अमृत देती है – गगा जल देती है और गौ दूध देती है परन्तु गगा और गौ की आवश्यकता नहीं है। इस धर्मप्रभावना से अमृत–अविनश्वर अमृत–मोक्ष और आत्मानुभवरूप अमृत प्राप्त होता है।।६३।।

संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनाम्।
दासानगारपालानां साररराजिः सदेह ना।।

हे अनगारपालाना दास ! (इय धर्मप्रभावना) ससारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिना
सदा इह साररराजि ना (अस्ति)।

संसार सागर असार अपार खारा,
कोई न धर्म बिन है तुमको सहारा।
नौका यही तरणतारण मोक्षदात्री,
ये जा रहे, कुछ गये उस पार यात्री।।६४।।

अर्थ – हे मुनिरक्षकों के दास ! यह धर्मप्रभावना, ससाररूपी गहरे समुद्र मे निमग्न प्राणियों वं
सदा इस ससार मे श्रेष्ठ रेखाओ से अकित नौका है।।६४।।

सद्धर्मिणि धृतसम ! य· वात्सल्यं वत्स इव गौ कृतसमय ।।
करोत्याप्यते समयः श्रियस्तेन सदयेन समय·।।

हे धृतराम । कृतसमय । य वत्से गौ इव राद्धर्मिणि वात्सल्य करोति
तेन सदयेन समय आप्यते श्रिय समय च (आप्यते)।

गो वत्स में परम हार्दिक प्रेम जैसा,
साधर्मि में तुम करो यदि प्रेम वैसा।
शुद्धात्म को सहज से द्रुत पा सकोगे,
औ मोक्ष में अमित काल बिता सकोगे।।६५।।

अर्थ – हे धृतसम । सहधर्मा जनों की रक्षा करने वाले। हे कृतसमय – आगम अथवा आचार को करने वाले । बछडे पर गाय के रामान जो समीचीन धर्म के धारक जनों पर वात्सल्य – स्नेह करता है उस दयालु मानव के द्वारा समय–शुद्धात्मा और मोक्ष लक्ष्मी का समय–समागम प्राप्त किया जाता है।।६५।।

अस्मिन् धृतभाव सति प्रभोऽस्तु हिंसात्मकवृत्तेर्वसतिः।
लसति विहायसि वसति प्रभाकरे किं वसति वसतिः।।

हे धृतभाव ! प्रभो ! अस्मिन् (वात्सल्ये) सति हिंसात्मकवृत्ते कि वसति अस्तु?
विहायसि वसति लसति प्रभाकर किं वसति? (नेत्यर्थ)।

वात्सल्य हो उदित ओ उर में जभी से,
है क्रूरभाव मिटते सहसा तभी से।
भानू उगे गगन भू उजले दिखाते,
क्या आप तामस निशा तब देख पाते?।।६६।।

अर्थ :- हे धृतभाव ! हे स्वभाव के धारक प्रभो ! इस वात्सल्यभाव के रहते हुये हिंसात्मक – क्रूरवृत्ति की क्या स्थिति हो? अर्थात् नहीं हो। आकाश मे देदीप्यमान सूर्य के रहते क्या रात्रि रह सकती है? अर्थात् नहीं।।६६।।

अनलयोगात् कलङ्क स्तथात्मनोऽस्माल्लयमेति कलङ्कः।
सकल गतः कल कः कलयति कलमेशोऽकलङ्क.।।

(यथा) अनलयोगात् कलडक लय (एति) तथा आत्मा कलडक अस्मात् (वात्सल्यात्)
लय एति (इति) सकल गत कल (गत च) कलमेश अकलक क कलयति।

निर्दोष हो अनल से झट लोह पिण्ड,
वात्सल्य से विमल आतम हो अखण्ड।
आलोक से सकललोक अलोक देखा,
यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा।।६७।।

अर्थ – जिस प्रकार अग्नि के सयोग से कलक नाश को प्राप्त होता हे उसी प्रकार वात्सल्यभाव से आत्मा का कलक–द्वेष नाश को प्राप्त होता है ऐसा सकल – कलाओं से सहित कल – परमौदारिक शरीर को प्राप्त लक्ष्मीपति कलकरहित जिनेन्द्र कहते हैं।।६७।।

भवति स्म भो ! भावतो भवति भवभवकृतशुभतो भावत.।
न्विदं विभो । विभावतो वियुतो भवोभवो भावतः।।

हे भो । विभो । भावत भावत भवति नु इद (वात्सल्य) भवभवकृतशुभत
भवति स्म अत भावत विभावत वियुत अभव भव (अस्ति)।

वात्सल्य तो जनम से तुम में भरा था,
सौभाग्य था सुकृत का झरना झरा था।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव तभी हुए हो,
शुद्धात्म में प्रभव वैभव पा लिया हो।।६८।।

अर्थ – भो विभो । हे भगवन । सहज रूप से जन्म से ही आप मे यह वात्सल्य अनेक भवों में किये पुण्य योग से प्रकट हुआ था। अत ससार एव विभावपरिणति से रहित अभव–जन्मातीत भव–सिद्धपर्याय प्राप्त होती है।।६८।।

ननु रविरिव पयोऽङ्ग तं पयोजचयं प्रति पयः पयोगतम्।
भूतमपापयोग तन्मनोस्त्वकं मे कृपया गतम्।।

उ । अङ्ग । अपापयोग । त पयोजचय प्रति रवि पयोगत पय प्रति पय इव
अक गत भूत (प्रति) मे तत् मन कृपया (सह) अस्तु।

बन्धुत्व को जलज के प्रति भानू धारा,
मैत्री रखे सुजल में वह दुग्ध धारा।
'स्वामी ! परन्तु जग के सब प्राणियों में,
वात्सल्य हो, न मम केवल मानवों में।।६६।।

अर्थ – हे अशुभोपयोग से रहित । प्रसिद्ध कमलसमूह के प्रति सूर्य के समान तथा दूध मे मिले पानी के प्रति दूध के समान दुःखी प्राणी के प्रति मेरा यह मन करुणा से युक्त हो।।६६।।

मनोहरं मदोन्मत्तं मनो हरं हरिंनय।
एनोहरं न्वदो वित्तं रं नो ह्यरं ह्यरिं श्रय।।

उ। (त्व) मदोन्मत्त मन मनोहर हरिं हर एनोहर (प्रथम) नय नु अद
(वात्सल्य) वित्त अर श्रय नो हि र अरिं (श्रय) हि (पादपूर्ती)।

उन्मत्त होकर कभी मन का न दास,
हो जा उदास सबसे बन वीर दास।
वात्सल्यरूप सर में डुबकी लगाले,
ले ले सुनाम 'जिनका' प्रभु गीत गा ले।।१००।।

अर्थ – हे आत्मन्! तू यह वात्सल्यभाव सब से पहले मदोन्मत्त मन को, मन को हरण करने वाले
सिह को और पाप को हरने वाले हर को प्राप्त कराओ। इस वात्सल्य रूप धन का तू शीघ्र
आश्रय ले कामाग्नि रूप शत्रु का आश्रय मत ले।।१००।।

गुरुस्मरणम्

श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव,
यद् 'भावनाशतककाव्य' - मघारिहन्तृ।
अध्यास्य सुश्रयमतोऽस्य सुशस्यकस्य,
विद्यादिसागरतनुर्लघु ना भवामि।।

(अयम्) श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव यत अघारिहन्तृ
भावनाशतककाव्यम् (मया रचितम्) अत सुशस्यकस्य अस्य
सुश्रयम अध्यास्य ना अहम् लघु विद्यासागरतनु भवामि।

गुरु-स्मृति

आशीष लाभ यदि मै तुमसे न पाता,
तो भावनाशतक काव्य लिखा न जाता।
हे ज्ञानसागर गुरो! मुझको संभालो,
विद्यादिसागर बना तुममे मिला लो।।१०१।।

अर्थ – यह श्री ज्ञानसागर महाराज की कृपा का फल है कि मेरे द्वारा पापरूप शत्रुओं को नष्ट करने वाला 'भावनाशतक' नाम का काव्य बन सका। अत अतिशय प्रशसनीय आत्मावाले इन गुरु का आश्रय प्राप्त कर मैं एक साधारण मनुष्य शीघ्र ही विद्यासागर हो रहा हूँ।

मंगल कामना

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारो ओर।।१।।

विषय कषाय तजो भजो, जरा निर्जरा धार।
ध्याओ निज को तो मिले, अजरामर पद सार।।२।।

सागर वो कचना तजे, समझ उसे निस्सार।
गलती करता क्यो भला, तू अघ को उर धार।।३।।

रवि सम पर उपकार मे, रहो विलीन सदेव।
विश्व शान्ति वरना नही, यो कहते निजदेव।।४

रग–रग से करुणा झरे दुखीजनो को देख।
चिर रिपु लख ना नयन मे, चिता रुधिर की रेखा।।५।।

तन–मन–धन से तुम सभी, पर का दुख निवार।
शम–दम–यम युत हो सदा, निज मे करो विहार।।६।।

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष।।७।।

सुनीति-शतक

शिवसुखं प्रमुख सुसमागम., स्मृतिरियं तव चास्तु समागमः।
कुमतये कुदृशा तु समागमः, स्वपरतेरुपयातु स मा गमः।।

हे जिनवर! तव चरण समागम सुरसुख शिवसुख शान्त रहा,
तव गुण गण का सतत स्मरण ही परमागम निभ्रान्त रहा।
विषय रसिक है कुधी रहे है अनुपम अधिगम नहीं मिले,
विरहित रति से रहूँ इसी से बोध कला उर सही खिले।।१।।

अर्थ – हे भगवन्! श्रेष्ठ मोक्षसुख सत्समागम आपका ध्यान और समीचीन शास्त्र प्राप्त हों किन्तु कुबुद्धि के लिये मिथ्यादृष्टि के साथ समागम और तीव्र विद्वेष का प्रसिद्ध मार्ग प्राप्त न हो।।१।।

वियति को वियतिर्वियुतोऽयतः, गतिर्यतिं ह्यगतो यतितोयत·।
शकलतो विकलं कलशकरं, किल यजे सकलं ह्यनिशं करम्।।

नभ मे रवि सम यतनशील है यति नायक सुखकारक है,
ज्ञान-भाव से भरित-झील है श्रुतिकारक-दुखहारक है।
सकल विश्व को सकल ज्ञान से जान रहे शिवशंकर है,
गति-मति-रति से रहित रहे है हम सब उनके किंकर है।।२।।

अर्थ – जो आकाश मे सूर्य के रामान गतिशील हैं यतियो में श्रेष्ठ हैं जो कर्मोदय से रहित हैं अथवा अय–शुभावह विधि से वियुत–विशेषरूप से सहित हैं गतियति–ज्ञान की विश्रान्ति से रहित हैं अर्थात् अनन्तज्ञान से सपन्न हैं, यतितोयत – इन्द्रिय दमनरूप जल से सहित हैं और अखण्ड – समस्त विश्व को जानने वाले हैं उन सकल – परमौदारिक शरीर से सहित कर – सुखदायक शान्तिविधायक जिनेन्द्र की मैं पूजा करता हूँ।।२।।

शुचिचिते श्रमणोऽत्र समानत., सुखशुभाशुभ दुःख समानत.।
सयम-संयमभावविभावतः, श्रयमयेऽन्वितिरस्तु विभावतः।।

दुख में, सुख में तथा अशुभ-शुभ में नियमित रखते समता,
शुचितम चेतन को नमते हैं श्रमण, श्रमणता से ममता।
यम-संयम-दम-शम भावों की लेता सविनय शरण अतः,
विभाव-भावो दुर्भावों का क्षरण शीघ्र हो मरण स्वतः।।३।।

अर्थ – इस जगत् मे श्रमण–साधु निर्मल चैतन्यस्वभाव के लिये समानत–नम्रीभूत है अर्थात् उसके लिये निरन्तार उद्यमशील हैं। सुख दुख शुभ और अशुभ अवस्था म समानता से सहित हैं, अत जीवनपर्यन्त के लिये धारण किये हुए सयमभाव के प्रभाव से आश्रय देने वाले उन विभु में मेरी अन्विति–अनुगति–भक्ति हो।।३।।

समवलम्ब्य सतीं शुचिशारदां, विषयमार्दववल्लितुषारदाम्।
यदिति पारिषहं शतकं वदे, बुधमुदेऽघभिदे शितसंविदे।।

मृदुल विषयमय लता जलाती शीतलतम हिमपात वही,
शान्त शारदा, शरण उसी की ले जीता दिन-रात सही।
'शतक परीषह-जय' कहता बस मुनिजन, बुधजन मन हरसे,
मूल सहित सब अघ संघर से ज्ञान-मेघ फिर झट बरसे।।४।।

अर्थ – विषयरूपी कोमल लताओ को तुषार देने वाली प्रशस्त जिनवाणी का आश्रय ले मैं जिस परिषहशतक को कह रहा हूँ वह विज्ञजनो के हर्ष के लिये, पापों के विनाश के लिये और उज्ज्वल ज्ञान के लिये होवे।।४।।

समुदितेऽसति वै सति मे विधौ, क्षुदनुभूतिरियं प्रथमे विधौ।
विधि - फलं ह्युदित समयेऽयति, समतया सह यत्सहते
यति.।।

उदय असाता का जब होता उलटी दिखती सुखदा है,
प्रथम भूमिका मे ही होती क्षुधा वेदना दुखदा है।
समरस रसिया ऋषि समता से सब सहता निज ज्ञाता है,
सब का सब यह विधि फल तो है 'समयसार' सुन गाता है।।५।।

अर्थ – मेरे अशुभकर्म का उदय रहते हुए प्रारम्भिक भूमिका मे यह क्षुधा की अनुभूति हो रही है उदयागत कर्म का फल समय आने पर चला जाता है – नष्ट हो जाता है ऐसा विचार कर साधु समताभाव से क्षुधापरिषह को सहन करते हैं।।५।।

भवतु सा तु सतां वरभूतये, सुगतये विधिसंवरभूतये।
कुगतये कुधियां किल कारण, विषयतोऽसुखि चैतदकारणम्।।

क्षुधा परीषह सुधीजनों को देता सद्गति सम्पद है,
और मिटाता नियमरूप से दुस्सह विधिफल आपद है।
कुधीजनों को किन्तु पटकता कुगति कुण्ड में कष्ट! अहा!
विषय रसिक हो दुखी जगत है सुखी जगत कह स्पष्ट रहा।।६।।

अर्थ – वह क्षुधापरिषह साधुओं को उत्कृष्ट सपत्ति के लिये देवादिगति की प्राप्ति के लिये तथा कर्मो के सवररूप विभूति के लिये होता है परन्तु अज्ञानीजनो को दुर्गति के लिये होता है। यह जगत विषयो से अकारण ही दुखी हो रहा है।।६।।

कनकतां दृशदोऽनलयोगतः, शुचिमिता अनया मुनयो गतः।
अभिनुता जितचित्तभुवा क्षुधा, शिवपथीत्युदिता निजवाक्षु धा।।

कनक, कनकपाषाण नियम से अनल योग से जिस विध है,
क्षुधा परीषह सहते बनते, शुचितम मुनिजन उस विध है।
क्षुधा विजय सो काम विजेता मुनियों से भी वन्दित है,
शिव-पथ पर पाथेय रहा है जिन मत से अभिनन्दित है।।७।।

अर्थ – जिस प्रकार अग्नि के सयोग से स्वर्णपाषाण स्वर्णता को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस क्षुधापरीषह के योग से मुनि शुचिता–निर्मलता को प्राप्त हुए हैं। कामविजेता मुनियो ने मोक्षमार्ग मे इस क्षुधापरीषह की सरतुति की है। ऐसा ब्रह्मा–जिनेन्द्रदेव ने अपनी वाणी मे कहा है।।७।।

ननु कृतानशनेन तु साधुना, ह्यसमयेऽप्यशन न हि साधु ना।
स्वसमये वचसा शुचि साधुना, निगदित शृणु तन्मनसाऽ धुना।।

आगम के अनुकूल किया यदि किसी साधु ने अनशन है,
असमय मे फिर अशन त्याज्य है अशन कथा तक अशरण है।
वीतराग सर्वज्ञ देव ने आगम मे यो कथन किया,
श्रवण किया कर सदा उसी का, मनन किया कर, मथन जिया।।८।।

अर्थ – निश्चय से उपवास करने वाले साधु को असमय में – चर्या के प्रतिकूल समय मे निरवद्य भी आहार नहीं लेना चाहिये ऐसा वीतराग साधु–जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम मे वचन द्वारा कहा है। उसे तुम इस समय मन लगाकर सुनो।।८।।

अनघता लघुनैति सुसगता, सुभगतां भगतां गतसंगताम्।
जितपरीषहकः सह को विदा, विदुरिहाप्यघकासह ! कोविदा.।।

स्वर्णिम, सुरभित, सुभग, सौम्यतन सुरपुर मे वर सुरसुख है,
उन्हे शीघ्र से मिलता शुचितम शाश्वत भास्वत शिवसुख है।
वीतराग विज्ञान सहित जो क्षुधा परीषह सहते है,
दूर पाप से हुए आप है बुधजन जग को कहते है।।६।।

अर्थ – हे पाप को न सहन करने वाले मुनिराज ! परीषहों को जीतने वाला जीव इसी लोक में शीघ्र ही निष्पापता, सत्सगति सौभाग्यशालिता ऐश्वर्यसपन्नता और निर्ग्रन्थता को सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् जानते हैं कहते हैं।।६।।

निजतनोर्ममता वमता मता, मतिमता समता नमता मता।
विमलबोधसुधां पिबताऽजरा, व्यथति तं न तृषा सुगताज ! सा ।।

पाप-ताप का कारण तन की ममता का बस वमन किया,
शमी-दमी, मतिमान मुनी ने समता के प्रति नमन किया।
विमल बोधमय सुधा चाव से तथा निरन्तर पीता है,
उसे तृषा फिर नहीं सताती सुखमय जीवन जीता है।।१०।।

अर्थ – हे आत्मज्ञ ! शरीर की ममता को छोडने वाले भेदविज्ञान से सहित समता के प्रति नम्रीभूत और यथार्थरूप से निर्मलज्ञानामृत का पान करने वाले मुनि ने जिसे स्वीकृत किया है वह तृषा तथोक्त कार्य करने वाले मुनि को पीडित नहीं करती।।१०।।

शमवतोऽत्र यतेर्भवतो यतः, सभयतां गुणिनश्च सतो यतः।
लसति मा पुरतो मुदिता सती, तदसहेति तृषा कुपिताऽसती।।

कषाय रिपु का शमन किया है सने स्वरस मे गुणी बने,
नम्र नीत, भवभीत रीत हो अघ से, तप के धनी बने।
मुक्ति रमा आ जिनके सम्मुख नाच, नाचती मुदित हुई,
मनो इसी से तृषा जल रही ईर्ष्या करती कुपित हुई।।११।।

अर्थ – यतश्च इस जगत में प्रशमगुण से सहित, ससार से भयभीत एव अनेक गुणो से युक्त मुनि के आगे मुक्तिलक्ष्मी प्रसन्न होती हुई विलसती है। अत उसे सहन न करने वाली तृषारूपी स्त्री

कुपित होकर मुनि के पास नहीं रहती। ईर्ष्यावश मुनि के पास नहीं आती।।११।।

नहि करोति तृषा किल कोपिनः, शुचिमुनीनितरो भुवि कोऽपि न।
विचलितो न गजो गजभावत', श्वगणकेन सहापि विभावतः।।

निरालम्ब हो, स्वावलम्ब हो, जीवन जीते मुनिवर हैं,
कभी तृषा या अन्य किसी वश कुपित बनें ना; मतिवर है।
श्वान भौंकते सौ-सौ मिलकर पीछे - पीछे चलते हैं,
विचलित कब हो गजदल आगे ललित चाल से चलते है।।१२।।

अर्थ – पृथ्वी पर निर्दोषचर्या करने वाले मुनियो को पिपासा तथा अन्य कोई भी पदार्थ कुपित नहीं करता। जैसे हाथी कुक्कुरसमूह के द्वारा तग किये जाने पर भी क्रोधवश अपने गजस्वभाव–गम्भीर भाव से विचलित नहीं होता।।१२।।

शमनिधौ निजचिद्विमलक्षिते-र्व्ययभवध्रुवलक्षणलक्षिते।
यदि यमी तृषितः सहसा गरेऽ-वतरतीव शशी किल सागरे।।

व्यय - उद्भव, ध्रुव-लक्षण से जो परिलक्षित है खरा रहा,
चिन्मय गुण से रचा गया है, समरस से है भरा रहा।
मनो कभी मुनि तृषित हुआ औ निज में तब अवगाहित हो,
जैसा सागर में शशि होता निश्चित सुख से भावित हो।।१३।।

अर्थ – यदि कदाचित् मुनि कण्ठ में तृषा से युक्त होता है अर्थात प्यास से उसका गला सूखता है ता वह अपने चैतन्यरुप निर्मल वसुधा के भीतर विद्यमान एव व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य लक्षण से सहित प्रशमरस के भण्डार मे उस प्रकार शीघ्र अवगाहन करता है जिस प्रकार कि चन्द्रमा समुद्र में।।१३।।

व्यथितनारकिणोऽपि पिपासवः, कलितकण्ठगतापकृपासव.।
इति विचार्य मुनिस्तदपेक्षया, मयि विपन्नयुतोऽयमुपेक्षया।।

रव-रव नरकों में वे नारक तृषित हुये है, व्यथित हुये,
सदय हृदय ना अदय बने है प्राण कण्ठगत मथित हुये।
उस जीवन से निज जीवन की तुलना कर मुनि कहते है,
वहॉ सिन्धु सम दुःख रहा तो यहॉ बिन्दु हम सहते हैं।।१४।।

अर्थ– जिनके निर्दय प्राणकण्ठगत हो रहे हैं ऐसे प्यास से युक्त पीडित नारकी भी तो हैं उनकी अपेक्षा मेरी विपत्ति कोई विपत्ति नहीं है ऐसा विचार कर मुनि प्यास के प्रति उपेक्षा से सहित है अर्थात् प्यास दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते।।१४।।

चलतु शीततमोऽपि सदागति-रमृतभावमुपैतु सदागतिः।।
जगति कम्पवती रसदा गतिः, स्खलति नो वृषतोऽपि सदागतिः।।

शीत-शील का अविरल-अविकल बहता जब है अनिल महा ,
ऐसा अनुभव जन-जन करते अमृत मूल्य का अनल रहा।
पग से शिर तक कपड़ा पहना कप-कप कपता जगत रहा ,
किन्तु दिगम्बर मुनि से नहिं विचलित हो मुनि-जगत रहा।।१५।।

अर्थ– अत्यन्त शीत वायु चले, अग्नि अमृतभाव को प्राप्त हो और जगत् मे जीवो की दशा कम्पन से युक्त तथा शरीर को विदीर्ण करने वाली भले ही हो तो भी मुनि धर्म से विचलित नहीं होता।।१५।।

तरुणतोऽरुणतः किरणावली , प्रशमिता सविता रागुणाऽवली।
गुरुनिशा लघुतां दिवसं गतं, मुनिरितः स्ववशं ननु संगतम्।।

तरुण-अरुण की किरणावलि भी मन्द पडी कुछ जान नहीं,
शिशिर वात से ठिठुर शिथिल हो भानु उगा पर, भान नहीं।
तभी निशा वह बडी हुई है लघुतम दिन भी बना तभी,
पर परवश मुनि नहीं हुआ है सो मम उर मे ठना अभी।।१६।।

अर्थ– शीत की अधिकता के कारण ही मानों मध्याह्न के सूर्य की किरणावली शान्त हो गई। स्वकीय गुणावली से सहित सूर्य शान्त हो गया, रात बडी और दिन छोटा हो गया तो भी मुनि निश्चय से स्वाधीन सगति को ही प्राप्त रहे अर्थात् शीत निवारक परपदार्थो के अधीन नहीं हुए।।१६।।

विमलचेतसि पूज्ययतेः सति, महसि सत्तपसि ज्वलिते सति।
किमु तदा हि बहिर्हिमपातत', सुखितजीवनमस्य मपाः ततः।।

यम-दम-शम-सम से मुनि का मन अचल हुआ है विमल रहा,
महातेज हो धधक रहा है जिसमें तप का अनल महा।
बाधा क्या फिर बाह्य गात पे होता हो हिमपात भले,
जीवन जिनका सुखित हुआ हम उन पद मे प्रणिपात करें।।१७।।

अर्थ– पूज्य मुनिराज के प्रशस्त निर्मल चित्त मे जब समाचीन तपरूपी तेज देदीप्यमान हो रहा है तब बाह्य मे बर्फ के पडने से उसे क्या चिन्ता है ? इसका जीवन तो उस समय भी सुखी रहता है इस कारण हे साधो ! तुम ब्रह्मरूप आत्मा के रक्षक होओ।

नभसि कृष्णतगा अभयानकाः, सतडितः सजलाश्च भयानकाः।
अशनिपाततयाप्यचलाश्चलाः, स्थिरमटेच्च मुनि ह्यचला चलाः।।

भय लगता है नभ में काले जल वाले घन डोल रहे,
बीच-बीच में बिजली तडकी घुगड-घुगड कर बोल रहे।
वज्रपात से चूर हो रहे अचल, अचल भी चलित हुए,
फिर भी निश्चल मुनि रहते है शिव मिलता, सुख फलित हुए।।१८।।

अर्थ – आकाश में कौंदती हुई बिजली से सहित जलयुक्त भयोत्पादक काले-काले गर्जते हुए मेघ भले ही छाये रहे, वज्रपात से पर्वत भी चचल हो उठे और अचला—पृथिवी भी चला हो जावे—कॉप उठे तो भी हे अभय। मुनि को स्थिर ही पाते हैं। तथोक्त उपसर्गो के कारण मुनि कभी भी विचलित नहीं होते।।१८।।

तपनता तपनस्य निदाघिका, व्रतवते स्ववते न निदाऽधिका।
समुचितं सवितुः प्रकराः करा॰, सलिलजाय सदा प्रखराः कराः।।

चण्ड रहा मार्तण्ड ग्रीष्म मे विषयी-जन को दुखद रहा,
आत्मजयी ऋषि वशीजनों को दुखद नहीं शिव सुखद रहा।
प्रखर, प्रखरतर किरण प्रभाकर की रुचिकर ना कण-कण को,
कोमल-कोमल कमलदलो को खुला खिलाती क्षण-क्षण को।।१६।।

अर्थ – सूर्य की ग्रीष्म कालीन तपनता आत्मविजयी मुनि के लिये दु खप्रद नहीं होती यह उचित ही है क्योकि सूर्य की अत्यन्त तीक्ष्ण किरणे कमल के लिये सदा सुखदायक होती हैं।।१६।।

सरसि जन्तुसभा न कतापतः, सरसिजं तु कुतोऽम्बु वितापतः।
इयति घर्मणि शान्तिसुधारक-स्तादवरोधन भाव विदारकः।।

सरिता, सरवर सारे सूखे सूरज शासन सक्त रहा,
सरसिज, जलचर कहाँ रहें फिर? जीवन साधन लुप्त रहा।
इतनी गरमी घनी पडी पर; करते मुनि प्रतिकार नहीं,
शान्ति सुधा का पान करें नित तन के प्रति ममकार नहीं।।२०।।

अर्थ – सूर्य के संताप से सरोवर मे जलचरो का समूह नहीं रहा। ताप की अधिकता से जल सूख गया फिर कमल कैसे रह सकता है? ऐसी गर्मी में शान्ति के धारक मुनि, उस गर्मी के रोकने वाले भाव को भी दूर करते हैं अर्थात् गर्मी को दूर करने का भाव भी नहीं करते हैं।।२०।।

त्रिपथगाम्बु सुचन्दनवासित, शशिकला सुमणिं ह्यथवा सितम्।
प्रकलयन्ति न धर्मसुशान्तये, भुवि मता मुनयो जिनशान्त! ये।।

सुरमा, काजल, गंगा का जल, मलयाचल का चन्दन है,
शरद चन्द्र की शीतल किरणे मणि माला, मनरजन है।
मन में लाते तक ना इनको, शान्त बनाने तन-मन को,
मुनि कहलाते पूज्य हमारे जिनवर कहते भविजन को।।२१।।

अर्थ – हे शातिजिनेन्द्र। पृथिवी पर जो निर्ग्रन्थ मुनि माने गये हैं वे गर्मी की बाधा शान्त करने के लिये न च दनसुवासित गगाजल की न चन्द्रकला की और न शुक्ल चन्द्रकान्तमणि की इच्छा करते हैं – इनका सेवन करते हैं।।२१।।

परिषह कलयन् सह भावत , स हतदेहरुचिर्निजभावत ।
परमतत्त्वविदा कलितो यति', जयतु मे तु मन. फलतोऽयति।।

तन से, मन से और वचन से उष्ण-परीषह सहते है,
निरीह तन से हो निज ध्याते बहाव मे ना बहते है।
परम तत्त्व का बोध नियम से पाते यति जयशील रहे,
उनकी यशगाथा गाने में निशिदिन यह मन लीन रहे।।२३।।

अर्थ – आत्मस्वभाव में विद्यमान होने से जि ाकी शरीर सम्बन्धी प्रीति नष्ट हो चुकी है जो समीचीन अभिप्राय – ख्यातिलाभादि की भावना से रहित मन से परिषह को सहन कर रहे हैं तथा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान से सहित हैं वे मुनि जयवत हों। इसके फलस्वरूप वे मुनि मेरे मन को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् मैं उनका निर तर ध्यान करता हूँ।।२३।।

विषधरैर्विषमैर्विषयातिग., परिवृतो व्रतवानदयातिगः।
नहि ततोऽस्य तु किंचन मानस, कलुषित किल
तच्छुचिमानसम्।।

विषयों को तो त्याग-पत्र दे व्रतधर शिवपथगामी है,
मत्कुण मच्छर काट रहे अहि, दया-धर्म के स्वामी है।
कभी किसी प्रतिकूल दशा में मुनिमानस नहि कलुषित हो,
शुचितम मानस सरवर-सा है सदा निराकुल विलसित हो।।२४।।

अर्थ – पञ्चेन्द्रियो के विषयो से रहित दयातुमुनि यद्यपि विषम विषधरो – सर्पो से वेष्टित रहते हें तथापि इनका पवित्र मन रूपी मानरारोवर उनसे कुछ भी कलुषित नहीं होता।।२४।।

असुमत. प्रति यो गतवैरतः, शुभदयागुणके सति वै रत.।
व्यथित नो मनसा वचसाङ्गतः, सदसि पूज्यपदं विदुषांगत ।।

चराचरो से मैत्री रखते कभी किसी से बैर नहीं,
निलय दया के बने हुए है नियमित चलते स्वैर नहीं।
तन से, मन से और वचन से करे किसी को व्यथित नहीं,
सुबुध जनो से पूजित होते मान-गान से सहित सही।।२५।।

अर्थ – जो मुनि प्राणियों के प्रति वेर रहित होने से निश्चयत श्रेष्ठ दयागुण में लीन रहते हुए मन वचन काय से दु खी नहीं होते ये विद्वानो की सभा मे पूज्य स्थान को प्राप्त होते हैं।।२५।।

रुधिरकं तु पिबन्ति पिबन्तु ते, स्तुतिसुधां सुखिनोऽज पिबन्तु ते।
मम न हानिरिहास्ति हि वस्तुत:, इति तनोः पृथगस्मि भवंस्तुत !।।

मत्कुणं आदिक रुधिर पी रहे पी लेने दो जीने दो,
तव शुभ स्तुति की सुधा चाव से मुझे पेट भर पीने दो।
तीन लोक के पूज्य पितामह ! इससे मुझको व्यथा नहीं,
यथार्थ चेतन पदार्थ मैं हूँ तन से 'पर' मम कथा यही।।२६।।

अर्थ – हे भवस्तुत ! अज ! हे समस्त संसार के द्वारा स्तुत ब्रह्मन् ! यदि वे खटमल तथा मच्छर आदि क्षुद्र रुधिर पीते हैं तो पियें और वे सुखीजन यदि स्तुतिरूपी अमृत पीते हैं तो पियें इस विषय मे परमार्थ से मेरी हानि नहीं है क्योंकि मैं शरीर से पृथक हूँ।।२६।।

मशकदंशकमत्कुणकादय , प्रविकलाः क्षुधिता अनकादय !
स्वकममी प्रभजंतु नु कं कदा, त्विति सतामनुचितनक कदा।।

दश मसक ये कीट पतंगे पल भर भी तो सुखित नहीं,
पाप पाक से पतित पले है क्षुधा, तृषा से दुखित यही।
कब तो इनका भाग्य खुले कब निशा टले, कब उषा मिले,
सन्त सदा यो चितन करते दिशा मिले, निज दशा खिले।।२७।।

अर्थ – हे अ ाकादय ! हे पाप और अदया से रहित जिनदेव ! जो डाश मच्छर तथा खटमल आदि जीव क्षुधा से युक्त हो अत्य त विकल दुखी हो रहे है ये अप े सुख को कब प्राप्त हो साधुओ का ऐसा चिन्तन कब हो।।२७।।

स्वपददं च पदं हि दिगम्बरं, निरुपयोग्यघदं तु धिगम्बरम्।
इति विचार्य विगुञ्चितपाटकाः, शिवपथेऽत्र जयन्तु नपाटकाः।।

निरा, निरापद, निजपद दाता यही दिगम्बर पद साता,
पाप-प्रदाता आपद-धाता शेष सभी पद गुरू गाता।
हुए दिगम्बर अम्बर तजकर यही सोच कर मुनिवर हैं,
शिवपथ पर अविरल चलते हैं हे जिनवर ! तव अनुचर है।।२८।।

अर्थ – निश्चय से दिगम्बर पद ही आत्मपद–मोक्ष को देने वाला है। किन्तु अनुपयोगी तथा पाप को देने वाले वस्त्र को धिक्कार हो। ऐसा विचार कर जिन्होंने वस्त्र का परित्याग किया है ऐसे दिगम्बर साधु मोक्षमार्ग मे जयवन्त रहें।।२८।।

कृतकृपा निजके च्युतवासना, हृततृपास्तु विसर्जितवासना।
समुपयान्तु शिव ह्यभव तु ते, धृतपटा मुनयो न भवन्तु ते।।

अपने ऊपर पूर्ण दया कर विषय-वासना त्याग दिया,
नग्न परीषह सहते तजकर वस्त्र, निजी मे राग किया।
अनुपम, अव्यय वैभव पाते लौट नहीं भव मे आते,
वस्त्र वासना जो ना तजता भ्रमता भव-भव मे तातै।।२६।।

अर्थ – ओ निज आत्मा एर दयालु हैं अर्थात उरो विषय प्रपञ्च से दूर रखते हैं जिन्होंने विषयो की वासना–सस्कार छोड दिये हैं जो लज्जा से रहित हैं तथा वस्त्र समूह रो रहित हैं वे निश्चय से गोक्ष को तथा जन्माभाव को प्राप्त हो। इसके विपरीत जो वस्त्रधारक है वे परमार्थ से मुनि नहीं हैं और मुक्ति एव जन्माभाव को प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं।।२६।।

\

जगदिदं द्विविधं खलु चेतनं, यदितरं स्वयमेव विचेतनम्।
विविधवस्तुनिकायनिकेतनं, शृणु निरावरणं हि निकेतनम्।।

हाँ अचेतन पुद्गल आदिक निज-निज गुण के केतन है,
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं ज्ञान निलय हैं, चेतन हैं।
यथार्थ में तो पदार्थ दल से भरा जगत् यह शाश्वत है,
निरावरण है, निरा दिगम्बर स्वयं आप 'बस' भास्वत है।।३०।।

अर्थ – यह जगत् चेतन अचेतन के भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो चेतन अथवा अचेतन है वह स्वय तथाभूत है। अर्थात् चेतन अचेतन रूप और अचेतन चेतन रूप नहीं हो सकता। सब अपने अपने नियत लक्षणो से युक्त हैं। समस्त वस्तु समूह के घर स्वरूप यह जगत् निरावरण है–पर के आवरण से रहित है अत मुनि को भी निरावरण रहना प्रकृति सिद्ध है। हे भव्य ! इस रहस्य

को तू सुन समझ तथा अगीकृत कर।।३०।।

अत इतो न घृणां कुरुते मनो, भुवि मुदार्षिरिद ह्ययते मनो।
कुलहित तनुजं जननीहते, भवति शोकवती गुणिनी हते।।

बिना घृणा के नग्नरूप धर मुनिवर प्रमुदित रहते है,
भवदु.खहारक, शिवसुखकारक, दुस्सह परिषह सहते है।
लालन-पालन, लाड-प्यार से सुत का करती ज्यों जननी,
कुलदीपक यदि बुझता है तो रुदन मचाती है गुणिनी।।३१।।

अर्थ – हे मनो। इसलिये मुनि का मन इस नाग्न्यव्रत की ओर घृणा नहीं करता है। पृथिवी पर मुनि इसे हर्ष से प्राप्त होते हैं – धारण करते हैं। जिस प्रकार गुणवती माता कुल का हित करने वाले पुत्र की इच्छा करती है उसका लालन पालन करती है और उसके नष्ट हो जाने पर शोकयुक्त होती है। इसी प्रकार मुनि नाग्न्यव्रत की इच्छा करते हैं–उसका निर्दोष पालन करते हैं और उसमें बाधा आने पर दुखी होते हैं।।३१।।

करणमोदपदार्थरसं प्रति, विरतिभावयुतो भुवि सम्प्रति।
सुविजितोऽरतिनाम परीषहः, करुणयाह कथाकृत् तु करी सह।।

इन्द्रिय जिनसे चंचल होती सब विषयों से विरत हुए,
इन्द्रियविजयी, विजितमना हैं निशिदिन निज में विरत हुए
अविरति रति से मौन हुये हैं अरति परीषह जीत रहे,
जिनवर वाणी करुणा कर कर कहती यो भवभीत रहे।।३२।।

अर्थ - पृथिवी पर निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक जो मुनि इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाले पदार्थों के रस के प्रति विरक्तिभाव से सहित होता है अर्थात अनुकूल रस वाले पदार्थों के स्वाद में अनुरक्त नहीं होता है उसके द्वारा अरतिनाम का परीषह सुख से जीता जाता है ऐसा करुणा का निर्देश करने वाली जिनवाणी दयापूर्वक कहती है।।३२।।

विकृतरूपशवादिकदर्शनात्, पितृवने च गजाहित गर्जनात्।
अरतिभाव-मुपैति न कचन, समितभावरतोऽञ्चतु क च न ।।।

सडा-गला शव मरा पडा जो बिना गडा, अधगडा जला,
भीड चील की चीर-चीरकर जिसे खा रही हिला-हिला।
दृश्य भयावह लखते, सुनते गजारिगर्जन मरघट मे,
किन्तु ग्लानि, भय कभी न करते, रहते मुनिवर निज घट मे।।३३।।

अर्थ – हे जिन। जो मुनि श्मशान गें विकृत रूप – सडे गले मृतक शरीर के देखने और हाथियो की अहितकारी–भयावह गर्जना रो कुछ भी अरतिभाव–अप्रीति भाव को प्राप्त नहीं होता साम्यभाव गे लीन रहन वाला वह गुनि सुख को प्राप्त हो।।३३।।

विरमति श्रुततो ह्यघकारतः, वचसि ते रमते त्त्वविकारतः।
स्मृतिपथ नयतीति न भोगकान्, विगतगावितकांश्च विभोऽघकान्।।

विषय वासना जिनसे बढती उन शास्त्रों से दूर रहे,
विराग बढता जिनसे उनको पढे साम्य से पूर रहें।
विगत काल मे भोगे भोगो कभी न मन में लाते हैं,
प्राप्तकाल सब सुधी बिताते निजी रमन मे ताते हैं।।३४।।

अर्थ – हे विभो। जो मुनि पापकारक शास्त्र से विरत रहता है तथा विकार रहित आपके वचन में–सुशास्त्र मे रमण करता है वह पापकारक अतीत–अनागत भोगों का स्मरण नहीं करता।।३४।।

सुविधिना यदनेन विलीयते, मनसिजा विकृतिः किल लीयते।
बलवती शुचिदृक् प्रविजायते, ध्रुवमतो लघुमायमजायते।।

आगम के अनुकूल साधु हो अरति परीषह सहते है,
कलुषित मन की भाव-प्रणाली मिटती गुरूवर कहते है।
प्रतिफल मिलता दृढतम, शुचितम दिव्य-दृष्टि झट खुलती है,
नियम रूप से शिव-सुख मिलता ज्योत्सना जगमग जलती है।।३५।।

अर्थ – जिस कारण मुनि विधिपूर्वक आत्मस्वरूप मे लीन होता है मानसिक विकृति को नष्ट करता है और उसके सुदृढ निर्मल सम्यग्दर्शन होता है अत उसे सयम से उत्पन्न होने वाली मा–मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही नियम से प्राप्त होती है।।३५।।

मदनमार्दवमानसहारिणी, लसितलोलकलोचनहारिणी।
मुदितमञ्जुमतङ्गविहारिणी, यदि दृशे किमु सा स्वविहारिणी।।

विशाल विस्फारित मंजुलतम चचल लोचन वाली हो,
कामदेव के मार्दव मानस को भी लोभन वाली हो।
मुख पर ले मुस्कान मन्दतम गजसम गमनाशीला हो,
उस प्रमदा के वश मुनि ना हो अद्भुत चिन्मय लीला हो।।३६।।

अर्थ – कामदेव के कोमल चित्त को हरने वाली सुन्दर एव चञ्चल नेत्रो से मनोहर और प्रसन्न मनोहर हाथी के समान चालवाली स्त्री यदि दृष्टि के लिये प्राप्त होती है अर्थात् देखने मे आती है तो निर्ग्रन्थ साधु विचार करता है क्या वह स्त्री स्वविहारिणी है? अपने आप म रमण करने वाली है? अर्थात् नहीं।।३६।।

सततमुक्तचरा मदमोहिता, यदिति या प्रमदाप्तयमोदिता।
यदि वने विजने स्मितभाषया, वदति चास्तु यतिर्न विभाषया।।

सदा, भुक्त, उन्मुक्त विचरती मत्त स्वैरिणी मोहित है,
तभी कहाती प्रमदा जग मे बुधजन से अनुमोदित है।
वन मे, उपवन मे, कानन मे, स्मित वदना कुछ बोल रही,
निर्विकार यति बने रहे वे उनकी दृग अनमोल रही।।३७।।

अर्थ – यतश्च जो स्त्री निरन्तार स्वच्छन्द घूमती है और मद से मोहित होती है उसे जिनेन्द्र के सयम मे 'प्रमदा' कहा गया है। ऐसी स्त्री मुसक्याती हुई निर्जन वन में सराग वाणी से यदि कुछ कहती है तो साधु अपने पद से विरुद्ध भाषा से युक्त न हो अर्थात् उससे बात न करे।।३७।।

विमलरोचनभासुररोचना, विलसितोत्पलभासुररोचना।
जनयितुं विकृति न हि सा क्षमा, ह्यविचलात्र यतौ सरसा क्षमा।।

लाल कमल की आभा सी तन वाली है सुर वनिताएँ,
नील कमल सम विलसित जिनके लोचन है सुख - सुविधाएँ।
किन्तु स्वल्प भी विषय वासना जगा न सकती मुनि मन में,
सुखदा, समता सती, छवीली क्योंकि निवसती है उनमे।।३८।।

अर्थ – सुशोभित नीलकमल के समान सुन्दर नेत्रो वाली एव निर्मल लालकमल के समान कान्ति से युक्त देवागना भी निर्ग्रन्थ साधु को विकार उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं है क्योंकि क्षमा–पृथिवी सरोवर से अविचल ही रहती है।।३८।।

श्रमणतां श्रयता श्रमणेन या, त्वरमिता रमिता भुवनेऽनया।
किमु विहाय सुधीरविनश्वरा, त्विह समामभिवाञ्छति नश्वराम्।।

शीलवती है, रूपवती है, दुर्लभतम है वरण किया,
समता रमणी से निशिदिन जो श्रमण बना है रमण किया।
फिर किस विध वह नश्वर को जो भवदा ! दु खदा वनिता है,
कभी भूलकर क्या चाहेगा? पूछ रही यह कविता है।।३६।।

अर्थ – साधुता को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो समता शीघ्र प्राप्त की गई इसके साथ रमण करने वाला ज्ञानी पुरुष इस अविनाशिनी समता को छोड क्या विनाशिनी सुन्दर स्त्री की इच्छा करता है? अर्थात् नहीं।।३६।।

कठिनसाध्यतपोगुणवृद्धये, मतिमलाहतये गुणवृद्ध ! ये।
पदविहारिण आगमनेत्रका, धृतदया विमदा भुवनेऽत्र काः।।

कठिन कार्य है खरतर तपना करने उन्नत तपगुण को,
पूर्ण मिटाने भव के कारण चंचल मन के अवगुण को।
दया वधू को मात्र साथ ले वाहन विन मुनि पथ चलते,
आगम को ही ऑख बनाये निर्मद जिनके विधि हिलते।।४०।।

अर्थ – हे गुणवृद्ध। इरा जगत् मे जो आगमरूप नेत्र से युक्त दयालु और मद रो रहित आत्माये–साध
ु हैं वे कठिनसाध्य तपरूप गुणो की वृद्धि के लिये एव बुद्धि सम्बन्धी मल–दोषों को नष्ट करने के लिये पैदल ही विहार करते हैं।।४०।।

अथ निवारितकापदरक्षकाः, श्रममितास्तु निजापदरक्षकाः।
अकुशलाध्वचलत्पदलोहिता, किमु तदा सुधियोऽन्तरलोहिताः।।

सभी तरह के पाद त्राण तज नग्न पाद से ही चलते,
चलते-चलते थक जाते पर निज पद में तत्पर रहते।
ककर, कटक चुभते-चुभते, लहुलुहान पद लोहित हो,
किन्तु यही आश्चर्य रहा है, मुनि का मन ना लोहित्त हो।।४१।।

अर्थ – जिन्होंने सब प्रकार के पादत्राण–जूता–चप्पल आदि छोड दिये हैं जो पैदल चलने से खेद को प्राप्त हैं आपत्ति से अपनी रक्षा–बचाव नहीं करते हैं तथा अकुशल–कण्टकादि से व्याप्त मार्ग में चलने वाले पैरों से लहूलुहान हो रहे हैं ऐसे विवेकी मुनिराज क्या उस समय अपने अन्त करण में लोहित–रागी होते हैं? अर्थात् नहीं।।४१।।

कमलकोमलकौ ह्यमलौ कलौ, ह्यभवतां सुपदौ सबलौ कलौ।
इति विचार्य तनौ भव मा रतः, स्मर कथां सुपदां सुकुमारतः।।

कोमल-कोमल लाल-लालतर युगल पादतल कमल बने,
अविरल, अविकल चलते-चलते सने रुधिर में तरल बने।
मन में ला सुकुमाल कथा को अशुचि काय मे मत रचना,
मार मार कर महा बनो तुम यह कहती रसमय रचना।।४२।।

अर्थ – सुकुमाल स्वामी के कमल के समान कोमल निर्मल और मनोहर सुन्दरचरण कलिकाल में सबल–शक्तिसपन्न हुए थे ऐसा विचार कर हे साधो। शरीर में रत–लीन न होओ उनकी उत्तमपद–प्रदायिनी अथवा सुन्दरपदावलि से युक्त कथा का स्मरण कर।।४२।।

समधिरोहितबोधसुयानका, स्तनुसुखावहविस्मृतयानकाः।
पथि चलत्स्वतनोः किल दर्शकाः, तयिति सन्तु जयन्तु तु दर्शकाः।।

बोधयान पर बैठ, कर रहे यात्रा यतिवर यात्री है,
त्याग चुके है, भूल चुके है रथवाहन, करपात्री है।
पथ पर चलता तन को केवल देख रहे पथ दर्शाते,
सदा रहे जयवन्त सन्त वे नमूँ उन्हें मन हर्षाते।।४३।।

अर्थ – जो सम्यग्ज्ञानरूपी सवारी पर अधिरूढ हैं शरीर के सुखदायक वाहनों को भूल चुके हैं तथा मार्ग में चलते हुए शरीर को जो दिखाते हैं अर्थात देखने वालो रो किसी प्रकार की सहायता की इच्छा नहीं करते किन्तु यही चाहतो हैं कि दर्शक लोग भी इसी तरह पद तिहार करने वाले हों। इस प्रकार चर्यापरिषह को सहन करने वाले राधु जयवत रहें।।४३।।

विदचलीकृतचञ्चलमानसः, प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः।
बहुदृढासनसंयतकायक, स्तदनुपालितजीवनिकायकः।।

आत्मबोध पा पूज्य साधु ने चंचल मन को अचल किया,
मोह लहर भी शान्त हुई है मानस सरवर अमल जिया।
बहुविध दृढतम आसन से ही तन को संयत बना लिया,
जीव दया का पालन फलतः किस विध होता जना दिया।।४४।।

अर्थ – निषद्यापरिषह को सहन करने वाले मुनि कैसे होते हैं? – ज्ञान के द्वारा जिन्होने चञ्चल मन को स्थिर कर लिया है जिनका हृदय मोहरूप तरगों–मोहजनितविकल्पों से रहित है अत्यन्त दृढ आसन से जिन्होंने शरीर को स्वाधीन कर लिया है और दृढ आसन होने से जिन्होंने जीव समूह की रक्षा की है ऐसे मुनि निषद्यापरिषह को जीतने वाले होते हैं।।४४।।

चरणमोहकबन्धनहानये, रुचिमितश्च सदालसहा नये।
नदतटे च नगे विहितासन, ऋषिगणो जयताच्च्युतवासनः।।

संयम बाधक चरित मोह को पूर्ण मिटाने लक्ष बना,
बिना आलसी बने निजी को पूज्य बनाने दक्ष बना।
सरिता, सागर, सरवर तट पर दृढतम आसन लगा दिया,
त्याग वासना, उपासनारत 'ऋषि की जय' तम भगा दिया।।४५।।

अर्थ – चारित्रमोह रूप बधन का निराकरण करने के लिये जो व्यवहारचारित्ररूप नीतिमार्ग मे रुचि–इच्छा अथवा श्रद्धा को प्राप्त हैं सदा आलस को नष्ट करते रहते हैं नदी तट अथवा पर्वत पर आसन लगाते हैं तथा जिनकी विषयवासना छूट चुकी है ऐसे मुनियों का समूह जयवन्त रहे।।४५।।

इह पुरागतकेऽस्य च योगता, मुपगताः स्वपद मुनयो गताः।
इति मतं नुतसाधुबुधार्य ! ते, यदिति सज्जगताप्यवधार्यते।।

आसन परिषह का यह निश्चित अनुपम अद्भुत सफल रहा,
हुये, हो रहे, होंगे जिनवर, इस बिन, सब तप विफल रहा।
बुधजन, मुनिजन से पूजित जिन ! अहोरात तव मत गाता,
अत. आज भी भविकजनो ने धारा उसको नत माथा।।४६।।

अर्थ – यहां वर्तमान भूत और भविष्यत् काल मे जो मुनि इस निषद्यापरीषह के मध्य ध्यानता को प्राप्त हुए वे स्वपद--आत्मपद–मुक्तिधाम को प्राप्त हुए हैं ऐसा जो आपका मत था वह अब भी विद्यमान जगत् के द्वारा इसी प्रकार माना जाता है।।४६।।

विमुख ! किं बहुना निजभावत , सभय। हे शृणु चेद् यदि भावत ।
इह युतोऽप्यमुना नतिमागत, ऋषिवरै श्रय तच्च सभा गता.।।

भय लगता है यदि तुझको अब विषयी जन मे प्रमुख हुआ,
यह सुन ले तू चिर से शुचितम निज अनुभव से विमुख हुआ।
दृढतम आसन लगा आप मे होता अन्तर्धान वही,
ऋषिवर भी आ उन चरणों में नमन करें गुणगान यही।।४७।।

अर्थ – अधिक कहने से क्या लाभ है? यदि तू निज स्वभाव से विमुख हो रहा है और यदि चतुर्गति रूप ससार से भयभीत है तो शुद्धभाव से सुन ! इस जगत् में जो इस निषद्यापरिषहजय से सहित है वह भी मुनिवरों से नमस्कार को प्राप्त हुआ है। तू भी उस परिषहजय का आश्रय ले जीवन के अनेक वर्ष निकल गये हैं।।४७।।

श्रममितः श्रमणोऽत्र भुवि श्रुते, तपसि तत्परतः खलु विश्रुते।
इति मतं निशि यः श्रयते यते, रतिशयं तु जिनाशय ! तेऽयते।।

श्रुतावलोकन आलोडन से मुनि का मन जब थक जाता,
खरतर द्वादशविध तप तपते साथी तन भी रुक जाता।
आगम के अनुसार निशा मे शयन करे श्रम दूर करे,
फलतः हे जिन ! तव सम अतिशय पावे सुख भरपूर खरे।।४८।।

अर्थ – इस वसुधा पर शास्त्राभ्यास और प्रख्यात तप मे तत्पर रहने से खेद को प्राप्त हुआ जो साधु रात्रि मे शय्या का आश्रय लेता है वह हे शयनरहित जिनेन्द्र ! यति–मुनिरूप आपके अतिशय को प्राप्त होता है ऐसा सिद्धान्त है।।४८।।

तृणशिलाफलके च सकारण, भुवि तुरीयव्रतोन्नतिकारणम्।
न हि दिवा शयनं निशि यामक, स कुरुते मुनिको विनियामकम्।।

भू पर अथवा कठिन शिला पर काष्ठ फलक पर या तृण पे,
शयन रात मे अधिक याम तक, दिन में नहिं, सयम तन पे।
ब्रह्मचर्य व्रत सुदृढ बनाने यथाशक्ति यह व्रत धरना,
जितनिद्रक हो हितचिन्तक हो अतिनिद्रा मुनि मत करना।।४६।।

अर्थ – षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि स्वाध्यायादिजनित खेद को दूर करने तथा ब्रह्मचर्य व्रत की उन्नति के लिये पृथिवी, तृण शिला अथवा काष्ठफलक पर शयन करते हैं। दिन मे शयन नहीं करते और रात्रि मे भी स्वच्छन्दता पूर्वक अधिक समय तक शयन नहीं करते।।४६।।

स उपसर्ग इहाजगता सुरे, र्जडजने गुणभिर्गहताऽसुरेः।
निशि न चैति मुनिरस्तु पदान्तरं, ह्यविचलं सत एव सदान्तरम्।।

मुनि पर यदि उपसर्ग कष्ट हो हृदय शून्य उन मानव से,
धर्म-भाव से रहित, सहित हैं वैर-भाव से दानव से।
किन्तु कभी वे निशि में उठकर गमन करें अन्यत्र नहीं,
अहो अचल दृढ हृदय उन्हीं का दर्शन वह सर्वत्र नहीं।।५०।।

अर्थ – पृथिवी पर अचेतन देव अज्ञानिमानव मन से द्वेष रखने वाले गुणीजन राज्य अथवा दानवों के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर मुनि रात्रि में दूसरे स्थान पर नहीं जाते। उसी स्थान पर रहते हुए उन मुनि का अन्तःकरण अविचल रहता है।।५०।।

विजितनिद्रक एव सदा दर, त्यजति चेदमरर्द्धिसदादरम्।
यदुपपत्तययिच्छितभोजनं, रसयुत प्रजहाति च भो ! जन।।

सप्तभयो से रहित हुआ है जितनिद्रक है श्रमण बना,
शय्या परिषह वही जीतता दमनपना पा शमनपना।
निद्राविजयी बनना यदि है इच्छित भोजन त्याग करो,
इन्द्रियविजयी बनो प्रथम तुम रसतज निज में राग करो।।५१।।

अर्थ – हे साधुजन ! निद्रा को जीतने वाला ही सदा भय को छोडता है तथा देव सम्बन्धी वैभव में समीचीन आदरभाव का परित्याग करता है। शय्यापरिषहजय की उपपत्ति–प्राप्ति के लिये रसीले इच्छित भोजन का भी त्याग करता है।।५१।।

सस्समयञ्च मुनेश्शयनं हितं, शयनमेवमटेच्छयनं हि तत्।
समुदितेऽप्यरुणे ह्युदयाचलेऽप्युडुदलो न हि खे सदयाऽचलेत्।।

यथासमय जो शयन परीषह तन रति तजकर सहता है,
निद्रा को ही निद्रा आवे मुनि मन जागृत रहता है।
समुचित है यह प्रमाद तज रवि उदयाचल पर उग आता,
पता नहीं कब कहाँ भागकर उडुदल गुप लुप छुप जाता।।५२।।

अर्थ – हे सदय ! दयायुक्तसाधो ! समयानुरूप शयन मुनि के लिये हितकारी है। इस तरह शयन ही शयन (शय्या) को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि उदयाचल पर सूर्य के उदित होने पर नक्षत्र–समूह आकाश में सब ओर नहीं चलता किन्तु अस्त हो जाता है।।५२।।

उपगता अदयैरुपहासतां, कलुषितं न मनो भवहा । सताम्।
शमवतां किमु तत् बुधवन्दन, न हि मुदेऽप्यमुदे जडनिन्दनम्।।

असभ्य पापी निर्दय जन वे करते हो उपहास कभी,
किन्तु न होता मुनि के मन की उज्ज्वलता का नाश कभी।
तुष्ट न होते समता-धारक सुधीजनो के वन्दन से,
रुष्ट न होते शिष्ट साधुजन कुधीजनों के निन्दन से।।५३।।

अर्थ – सत्पुरुष निर्दय मनुष्यो के द्वारा उपहास–अनादर को प्राप्त होते हैं परन्तु उससे उनका मन कलुषित नहीं होता। विद्वानों का नमस्कार साधुओं के लिये क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है तथा अज्ञानीजनों के द्वारा की हुई निन्दा न उनके हर्ष के लिये होती है और न अहर्ष–अप्रीति के लिये।।५३।।

कटुककर्कशकर्णशुभेतरं, प्रकलयन् स इहासुलभेतरम्।
वचनकं विबुधस्त्विव विश्रुतिर्बलयुतोऽप्यबलश्च भुवि श्रुतिः।।

क्रोध जनक है कठोर, कर्कश, कर्ण कटुक कुछ वचन मिले,
निहार वेला में सुनने को अपने पथ पर श्रमण चले।
सुनते भी पर बधिर हुए-से आनाकानी कर जाते,
सहते है आक्रोश परीषह अबल, 'सबल होकर' भाते।।५४।।

अर्थ – आक्रोशपरिषह को सहन करने वाले ज्ञानी मुनिराज इस जगत् मे सुलभ, कटुक कठोर और कानो के लिये अप्रिय निन्द्यवचन की ऐसी उपेक्षा करते हैं मानो उन्होंने सुना भी न हो बहरे हों। इसीलिये पृथिवी पर ऐसी श्रुति प्रसिद्ध हुई कि वह बलसहित होकर बलरहित थे।।५४।।

गतमलो विरसस्त्विति कारणात्, वचनतः पृथगस्मि च कारणात्।
मम न हानिरतोऽस्तु सुचिन्तति, प्रलभतेऽत्रे मुनेः स्वशुचि तति ।।

इन्द्रियगण से रहित रहा हूँ मल से रस से रहित रहा,
रहा इसी से पृथक् वचन से चेतन बल से सहित रहा।
निन्दन से फिर हानि नहीं है विचार करता इस विध है,
प्रहार करता जडविधि पे मुनि निहारता निज बहुविध है।।५५।।

अर्थ – मैं मल से रहित हूँ और रस से रहित हैं इस कारण दुष्टजन के वचन तथा कारण– वध से मेरी कुछ भी हानि नहीं है ऐसा चिन्तवन करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन से मुनियो का समूह आत्मशुद्धि को अच्छी तरह प्राप्त होता है।।५५।।

कुमतिभिर्दलितोऽपि सखेदितः, सुपथवञ्चित एव सखेऽर्दितः।
अविरतो विमुखः प्रतिकारत', जयतु यस्य स वै समकारतः।।

सही मार्ग से भटक चुके है चलते-चलते त्रस्त हुए,
भील, लुटेरो, मतिमन्दो से घिरे हुए दुःखग्रस्त हुए।
उनका न प्रतिकार तथापि करते यति जयवन्त रहे,
समता के है धनी-गुणी हे पापो से भयवन्त रहे।।५६।।

अर्थ – यदि मुनिराज मिथ्यादृष्टियो – मतद्वेषी लोगो के द्वारा खिन्न किये जाते हैं तथा समीचीन मार्ग भूलकर कुश तथा कटकाकीर्ण वनक्षेत्र मे चलकर खेद पाते हैं तो भी वे अपने गृहीतमार्ग सयम की साधना से विरत नहीं होते हैं। आई विपत्ति का प्रतिकार भी नहीं करते। समताभाव से युक्त रहते हैं ऐसे मुनि जयवन्त रहें।।५६।।

फलमिदं तु पुराकृतशावरे, समुदिते न पराकृतशावरे।
इह परे प्रभवो व्यवहारतः, स मनुते हि निजेऽव्रतहा रत॰।।

मोह-भाव से किया हुआ था पाप पाक यह उदित हुआ,
पर का यह अपराध नहीं है उपादान खुद घटित हुआ।
पर का इसमे हाथ रहा हो निमित्त वह व्यवहार रहा,
अविरति-हन्ता नियमनियन्ता कहते जिनमतसार रहा।।५७।।

अर्थ – यह उपसर्गरूप फल पूर्वकृत पाप के उदित होने पर प्राप्त हुआ है न कि अन्यकृत अपराध
। के होने पर। इस जगत् में परपदार्थ में जो कारण का कथन होता है वह व्यवहार–उपचार से होता है। निजात्मा में लीन साधु ऐसा मानते हैं।।५७।।

तनुरुषोऽरुणताऽशुचिसागरा, वधमिता भवदाशु च सा गरा।
मम ततः क्षतिरस्ति न काचन, चरणबोधदृशो ध्रुवकाश्च न!।।

काया लाली रही उषा की अशुचिराशि है लहर रही,
भवदुःखकारण, कारण भ्रम का शरण नहीं है जहर रही।
इसका यदि वध हो तो हो पर इससे मेरा नाश कहाँ?
बोध-धाम हूँ चरण सदन हूँ दर्शन का अवकाश यहाँ।।५८।।

मेरा वह शरीर प्रात काल
अर्थ – वध का प्रसग आने पर साधु ऐसा विचार करता है कि हे जिन । मेरा वह शरीर प्रात काल [illegible] वर्तमान पर्याय
की लालिमा है। अशुचिता का सागर उसमे लहरा रहा है भव को देने वाला है अथवा वर्तमान पर्याय [illegible] ऐसा शरीर यदि व
को नष्ट करने वाला है और सब ओर से विषरूप अथवा रोगों से सहित है। ऐसा शरीर यदि व[illegible] ज्ञान और चारित्र
। को प्राप्त हो रहा है तो इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं है क्योंकि मेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र
ध्रुवरूप हैं – नष्ट नहीं हुए हैं।।५८।।

विविधकर्मलयास्रवहेतव., किल हिताहितका जड हे ! तव।
पथि सतीति मुनेर्मुनिचालकाः, सुकथयन्त्यनघा घविचालकाः।।

बहुविध विधि का संवर होने मे हित निश्चित निहित रहा,
पापास्रव मे कारण होता शिवपथ में वह अहित रहा।
अन्ध मन्दमति ! वधक नहीं ये बाह्यरूप मे साधक है,
पाप पुण्य के भेद जानते कहते मुनिगण-चालक हैं।।५६।।

अर्थ – वध का प्रसग आने पर मुनि इस प्रकार आत्मसबोधन करते हैं – हे अज्ञ आत्मन् ! नाना प्रकार के कर्मों के सवर और आस्रव में कारणभूत जो भाव हैं वे ही यथार्थत कल्याणमार्ग मे तेरे मित्र और शत्रु हैं। अर्थात जो सवर के कारण हैं वे हित रूप हैं और जो आस्रव के कारण हैं वे अहितरूप हैं। इस तरह पुण्य–पाप का विचार करने वाले आचार्य कहते हैं।।५६।।

वसतिकाप्रभृतेर्नहि याचना-मृषिरिहायति दीनतया च ना!
यदनया लयते निजतन्त्रता, न भजिता विदुषा परतन्त्रता।।

अशन वसतिकादिक की ऋषिगण नहीं याचना करते हैं,
तथा कभी भी दीन-हीन बन नहीं पारणा करते हैं।
निजाधीनता फलतः निश्चित लुटती है यह अनुभव है,
पराधीनता किसे इष्ट है वही पराभव, भव-भव है।।६०।।

अर्थ – इस जगत् मे ऋषिपदधारी मनुष्य दीनता से वसतिका आदि की याचना नहीं करता क्योंकि इस याचना से स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। तथा विद्वान् के द्वारा परतन्त्रता का सेवा नहीं होता।।६०।।

यदनुवृत्ति ऋषिं हि सदोषतां, नयति चैव लयं गतदोषताम्।
उडुपतिर्ग्रसितो निशि केतुना, त्विति विचिन्त्य वसेन्निजके तु ना।।

निज पद गौरव तज यदि यति हो मनो-याचना करते है,
दर्पण सम उज्ज्वल निज पद को पूर्ण कालिमा करते है।
शुचितम शशि भी योग केतु का पाकर ही वह शाम बने,
यही सोचकर साधु सदा ये निज मे ही अविराम तने।।६१।।

अर्थ – याचना का अनुसरण साधु को सदोषता प्राप्त कराता है और निर्दोषता को नष्ट करता है। जिस प्रकार रात्रि में राहू के द्वारा ग्रसित चन्द्रमा सदोषता को प्राप्त होता है उसी प्रकार याचना से ग्रसित साधु सदोषता को प्राप्त होता है। ऐसा विचारकर मनुष्य को निजात्मा में ही निवास करना चाहिये।।६१।।

सुकुफलं मिलतीह नियोगत., स्वयमयाचितक विधियोगत'।
अथ मुने ! भव हे त्वमयाचक-श्चलिततत्त्वविधिर्भुवि याचक'।।

बिना याचना, कर्म उदय से यह घटना निश्चित घटती,
कभी सफलता, कभी विफलता भेद-भाव बिन बस बटती।
इसीलिए मत याचक बनना भूल कभी बन भ्रान्त नहीं,
याचक बनता नहीं जानता कर्मों का सिद्धान्त सही।।६२।।

अर्थ—इस जगत् मे कर्मयोग से अच्छा—बुरा फल नियम से स्वय मिलता है। अत हे मुने ! तुम अयाचक रहो किसी वस्तु से याचना न करो। इसके विपरीत यदि याचक होते हो तो निश्चित ही तुम तत्त्वश्रद्धा से विचलित होगे।। ६२।।

व्रजति चैव मुनिमृगराजता, जितपरीषहको मुनिराजताम्।
इति न चेल्लघुतामुपहासतां, सुगत एव गतोऽशुभहा सताम्।।

याञ्चा परिषह विजयी मुनिवर-समाज में मुनिराज बने,
स्वाभिमान से मंडित जिस विध हो वन मे मृगराज तने।
याञ्चा विरहित यदि ना बनता जीवन का उपहास हुआ,
विरत हुआ पर बुध कहते वह गुरुता का सब नाश हुआ।।६३।।

अर्थ–परीषहो को जीतने वाला मुनि ही सिंह के समान स्वात्मनिर्भरता और मुनियों के आधिपत्य को प्राप्त होता है। यदि इसके विपरीत है तो अशुभ को नष्ट करने वाला मुनि ज्ञानी होने पर भी लघुता और सतपुरुषों के बीच उपहास को प्राप्त होता है।।६३।।

अनियतं विहरन्नपि स क्षम', शृणु कृतानशनः खलु सक्षम'।
अलभमान ऋषिर्ह्यशनं कर ! सुलभमान इवाऽऽवदनकर.।।

अनियत विहार करता फिर भी निर्बल सा ना दीन बने,
तथा किया उपवास तथापि परवश ना ! स्वाधीन बने।
भोजन पाने चर्या करता पर भोजन यदि नहि मिलता,
विषाद करता नहिं पर, भोजन मिला हुआ-सा मुख खिलता।।६४।।

अर्थ–हे कर ! हे सुखद ! सुनो क्षमाधर्म से विभूषित मुनि अनियत विहार करते हुए तथा उपवास से युक्त होते हुए भी अपनी दिनचर्या मे समर्थ रहत हैं। आहार न मिलने पर भी उनका मुख आहार मिलने वाले के मुख के समान अत्यन्त प्रसन्न रहता है।।६४।।

रसयुते मिलिते न हि नीरसे, परिगतो विरतिं स मुनीरसे।
प्रमुदितः क्षुभितो न हि मे विधे॰, प्रतिफलं त्विति वै मनुते विधे।।

इष्टमिष्ट रस-पूरित भोजन मिलने पर हो मुदित नहीं,
अनिष्ट नीरस मिलने पर भी दुःखित नहीं हो क्रुधित नहीं।
सहित रहा संवेग भाव से सर्व रसो से विरत बना,
चितन करता यह सब विधिफल साधु गुणो से भरित बना।।६५।।

अर्थ–हे विधात ! घृतदुग्धादिरसों में विरक्ति को प्राप्त हुआ मुनि सरस अथवा नीरस आहार के मिलने पर प्रसन्न अथवा कुपित नहीं होता। किन्तु यह हमारे कर्म का फल है निश्चय से ऐसा मानता है।।६५।।

विधिदलाः वहुदुःखकरागया, वहव आहुरपीह निरागयाः।
अशुचिधामनि चैव निसर्गतः, क्षरणमेव विधेर्रुपसर्गतः।।

सभी तरह के रोगों से जो मुक्त हुए हैं वता रहे,
कर्मो के ये फल है सारे, खारे जग को सता रहे।
रोगो का ही मन्दिर तन है अन्दर कितने पता नहीं,
उदय रोग का, कर्म मिटाता ज्ञानी को कुछ व्यथा नहीं।।६८।।

अर्थ – स्वभाव से ही अपवित्रता के स्थानभूत इस शरीर में अनेक दुःखप्रद रोगों को करने वाले कर्मसमूह विद्यमान हैं ऐसा रोगरहित जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। उपसर्ग से तो कर्म की निर्जरा ही होती है।।६८।।

सुरभिचंदनलेपनरञ्जनात्, विरहितोऽपि सुधी र्मुनिरञ्जनात्।
अनघभेषजक तु विधेयक, भजतु रोगलयाय विधेऽयकम्।।

सुगन्ध चन्दन तैलादिक से तन का कुछ सस्कार नहीं,
वसनाभूषण आभरणो से किसी तरह शृंगार नहीं।
फिर भी तन मे रोग उगा हो पाप कर्म का उदय हुआ,
उसे मिटाने प्रासुक औषध मुनि ले सकता सदय हुआ।।६६।।

अर्थ – हे विधे। यह विवेकवान् मुनि सुगन्धित च दन के विलेप रूप अगराग तथा नेत्रो के कज्जल से रहित होने पर रोग का नाश करने के लिये योग्य निर्दोष औषध का सेवन कर सकता है।।६६।।

ध्रुवममुं मुनिना भजतामितं, सुकृतजं निजकं स्ववता गितम्।
प्रणिहितं वहुना किमु सादरं, विजहतं भय तं सहसा दरम्।।

रोग परीषह प्रसन्न मन से जो मुनि सहता ध्रुव ज्ञाता,
सुचिरकाल तक सुरसुख पाता अमिट अमित फिर शिव पाता।
अधिक कथन से नहीं प्रयोजन मरण भीति का नाश करो,
सादर परिषह सदा सही बस! निजी नीति में वास करो।।७०।।

अर्थ – ध्रुव–नित्य निज आत्मा की रक्षा करते इस रोगपरिषह को सहते और उसके फल स्वरूप पुण्य से उत्पन्न स्वर्गादिक के मित–सीमित तथा अमित–अपरिमित आत्मसुख को प्राप्त होने वाले मुनि ने जिसे धारण किया है–सहन किया है उस रोगपरिषह को आदरसहित सहन कर और प्रसिद्ध भय को नष्ट कर। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है?।। ७०।।

यदि तृण पदयोश्च निरन्तर, तुदति लाति गतौ मुनिरन्तरम्।
तदुदित व्यसनं सहतेऽञ्जसा-हमपि सच्च सहे मतितेजसा।।

तृण कटक पद में वह पीडा सतत दे रहे दुखकर है,
गति मे अतर तभी आ रहा रुक-रुक चलते मुनिवर है।
उस दुस्सह वेदन को सहते-सहते रहते शान्त सदा,
उसी भाँति मै सहूँ परीषह शक्ति मिले, शिव शान्ति सुधा।।७१।।

अर्थ–यदि कण्टकादि तृण पैरो में निरन्तर पीडा करता है और गति में अन्तर–व्यवधान लाता है तो मुनि उससे उत्पन्न कष्ट को वास्तव मे सहन करते हैं। मैं भी भेदज्ञान के प्रताप से उस विद्यमान कष्ट को सहन करता हूं।।७१।।

विकचपुष्पचया विलसन्ति ते, परिवृता अलिभिस्त्विह सन्ति तै।
विषमशूलतृणादिहता विधे ! ह्यविकला न चला. सुगता विधे.।।

खुले खिले हों डाल-डाल पर फूल यथा वे हँसते है,
जिनकी पराग पीते अलि-दल चुम्बन लेते लसते है।
विषय, विषमतर शूल तृणो से आहत है पर तत्पर है,
निज कार्यों में बिना विफल हो कहते हमसे तन पर है।।७२।।

अर्थ–तृणस्पर्श आदि की बाधा उपस्थित होने पर मुनि विचार करते हैं कि हे ब्रह्मन् ! इस जगत में सुगन्धलोभी भ्रमरो से घिरे जो विकसित पुष्पों के समूह सुशोभित हो रहे हैं वे विषम कण्टक तथा तृण आदि से आहत–विद्ध होकर भी दु खी नहीं होते हैं और न अपने कार्य से विचलित होते हैं।।७२।।

विचरणे शयनासनयोः सत , सुखमुदेति सुखात् मृगयो ! षत ।
शमसुखोदधिरेव विरागत., त्वकवते जगते बहिरागतः।।

कठिन-कठिनतर शयनासन मे कटक पथ पर विचरण में,
सुख ही सुख अवलोकित होता मुनियो के आचरणन मे।
भीतर से बाहर आने को शम सुख सागर मचल रहा,
दुखित जगत को सुखित बनाने यतन चल रहा सकल रहा।।७३।।

/

अर्थ–रे ब्रह्मन् ! विहार करने वाले साधु के विहार शयन और आसन मे सुख से सुख ही उत्पन्न होता रहता है अर्थात् कष्ट होने पर भी उनकी प्रसन्नता स्थिर रहती है। ऐसा जान पड़ता है मानों उनके भीतर जो शम और सुख का सागर लहरा रहा है वह विरागता के कारण दुखी संसार को सुखी करने के लिये ही बाहर आ गया है।।।७३।।

यदि कदाचिदतो हृदि जायते, वपुषि चाकुलता विधिजा यते·।
न हि विना यदनेन विसातनं, त्विति विधेः समयेऽन्यदसाधनम्।

कभी-कभी आकुलता यदि हो मन में तन मे वेदन हो,
प्रतिफल हो, 'फल कर्मचेतना' चेतन मे पर खेद न हो।
बिना वेदना प्रथम दशा में कर्मो का वह क्षरण नहीं,
समयसार का गीत रहा यह औ सब बाधक शरण नहीं।।७४।।

अर्थ–यदि कदाचित् मुनि के हृदय ओर शरीर मे कर्मोदय से समुत्पन्न आकुलता होती है तो वह इस प्रकार चिन्तवन करता है कि परिषट के बिना कर्म की निर्जरा नहीं होती। आगम मे इसके अतिरिक्त अन्य को निर्जरा का असाधन कहा है।।७४।।

परिमल गुणवन्निजभावि त-दचलवस्तु मया किल भावितम्।
मलमलं हि ततोऽत्र भवस्तुत ! मुनिनुत शुचिवस्तु तु वस्तुतः।।

निज भावो से भावित भाता भासुर गुणगण शाला है,
परिमल पावन पदार्थ प्यारा अनुभवता रस प्याला है।
फिर यह तन तो स्वभाव से ही मल है मल से प्यार वृथा,
मुनियो से जो वंदित है सुन ! शुद्ध-वस्तु की सार कथा।।७५।।

अर्थ–जो ज्ञानादि गुणों से सहित हैं निजभाव से युक्त हैं और मैं जिसकी निरन्तर भावना करता हूँ वह अविनाशी आत्मवस्तु ही निश्चय से मनोहारी सुगन्ध है। हे भवस्तुत ! हे सर्वलोकवन्दित भगवन् ! इस शरीर पर जो मल–मैल संलग्न है वह व्यर्थ है–उसकी क्या चिन्ता करना है परमार्थ से मुनियो के द्वारा स्तुत आत्मरूप वस्तु ही शुचि–पवित्र है।।७५।।

पलमलैर्निचिता धिगचेतना, प्रकृतितो दुरभेश्च निकेतना।
मलजनीस्तनुरीशविभाषिता, तदनुगा तु सतोऽपि विभा सिता।।

स्वभाव से ही रहा घृणास्पद रहा अचेतन यह तन है,
पल से मल से भरा हुआ है क्यो फिर इसमे चेतन है ?
तन से निशिदिन झरती रहती अशुचि, सुनो जिनश्रुति गाती,
देह राग से श्रमणो की उस विराग छवि ही क्षति पाती।।७६।।

अर्थ–भगवज्जिनेन्द्र के द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है ऐसा यह शरीर मॉस और मैल से व्याप्त है, अचेतन है स्वभाव से दुर्गन्ध का घर है और मल को उत्पन्न करने वाला है ऐसे शरीर को धिक्कार हो। इस शरीर का अनुगमन करने वाली साधु की विभा–दीप्ति–प्रतिष्ठा भी समाप्त हो जाती है।।७६।।

कतपनाङ्गजरञ्जितदेहक , सहरजोमलको गतदेहक ।।
मलपरीषहजित् स्वसुधारक', विरसपादपभावसुधारक ।।

तपन-ताप से तप्त हुआ तन स्वेद कणो से रजित हो,
रज कण आकर चिपके फलत स्नान बिना मल सचित हो।
मल परिषह तब साधु सह रहा सुधा पान वे सतत करे,
नीरस तरु सम तन है जिनका हम सब का सब दुरित हरे।।७७।।

अर्थ – हे सिद्धभगवन ! जिसका शरीर सूर्य के रातप से उत्पन्न पसीना से युक्त है जो धूलि और मल से रहित हैं आत्म सुधा का पान करने वाला है और जो शरीर को सूखे वृक्ष के समान समझ रहा है एसा साधु ही मलपरीषह को जीतने वाला होता है।।७७।।

बलयुतोऽपि मुनिः स्वतनोर्मलं, न हि निवारयति ह्यतनोऽमल !
चिति चिदस्मि सदास्तु मले मल, वदति तत्कमलं कमलेऽमलम्।।

कंचन काया बन सकती है ऋद्धि-सिद्धि से युक्त रहा,
तन का मल मुनि नहीं हटाता मल से तन अतिलिप्त रहा।
चेतन मैं हूँ, चेतन में हूँ यथार्थ मल तो मल में है,
कहता जाता कमल कमल में कहने भर को जल में है।।७८।।

अर्थ– हे अशरीर ! निर्मल ! परमात्मन् ! मुनि, बल सहित होने पर भी शरीर का मैल दूर नहीं करते हैं। वे विचार करते हैं कि मैं चैतन्यरूप हूँ तथा चैतन्य मे ही निवास करता हूँ। इसी प्रकार मैल मैल मे रहता है आत्मा में नहीं। यह रहस्य कमल मे रहने वाला निर्मल कमल बताता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार परमार्थ से निर्मल कमल कमल में रहता है और व्यवहार से जल में रहता है उसी प्रकार पौद्गलिक मैल पौद्गलिक शरीर मे रहता है आत्मा मे नहीं अतः मुनिराज उसे दूर करने का विचार नहीं करते।।७८।।

विनयशसनपूजनकादरमलभमानमुनिः ह्यनिरादर.।
अविरतैर्व्रतिभिर्मदशावत-श्च्युतविकारललाटविभावत'।।

अविरत जन या व्रती पुरुष यदि अपने से विपरीत बने,
आदर ना दे, करे अनादर यदि बनते अविनीत तने।
किन्तु मुनीश्वर लोकेषण से दूर हुए भवभीत हुए,
विकार विरहित ललाट उनका रहता वे जग मीत हुए।।७६।।

अर्थ – अहकार के कारण अव्रती तथा व्रतीजनों के द्वारा विनय स्तुति पूजन एव आदर को प्राप्त न होने वाला मुनि अपने आपका अनादर नहीं मानता और न क्रोध आदि से ललाट के ऊपर कोई विकार प्रकट करता है।।७६।।

जगति सत्त्वदलः सकलश्चलः, परिमलो पिकल. सकलो ऽचल।
समगुणैर्भरितो मत आर्य ! ते, गुरुरय स लघुर्न्ववधार्यते।।

अमल, समल है सकल जीव ये ऊपर, भीतर से प्यारे,
अगणित गुणगण से पूरित सब 'समान' शीतल शुचि सारे।
मैं 'गुरु' तू 'लघू' फिर क्या बचता परिभव-परिषह बुध सहते,
आर्य देव अनिवार्य यही तव मत गहते सुख से रहते।।८०।।

अर्थ – हे आर्य। आपके मन में त्रस स्थावर सुगन्धित कलाहीन और कलारहित–सभी प्राणि समूह (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा) समान गुणो से परिपूर्ण हैं अत 'यह गुरु है और वह लघु है यह कैसे निश्चित किया जाय?।।८०।।

यदि यदा विनये मिलिते सति, मदमिता न मति सुमते सती।
निजकगर्भगताखिलमानता, प्रलयकाय तु दक्षतमा नता।।

कभी प्रशसा करे प्रशसक विनय समादर यदि करते,
नहीं मान-मद मन में लाते, मन को कलुषित नहि करते।
प्रत्युत अन्दर घुस कर बैठा मान-कर्म के क्षय करने,
साधु निरतर जागृत रहते निज को शुचि अतिशय करने।।८१।।

अर्थ – विनय के प्राप्त होने पर यदि साधु की बुद्धि मद को प्राप्त नहीं होती किन्तु सुमते–उ त्तम मत में रहती है तो वह श्रेष्ठ है। अपने आप मे समस्त अभिमानों–ज्ञान–पूजा–कुलजाति आदि से उत्पन्न होने वाले मान का रहना प्रलय–विनाश के लिये होता है। इसके विपरीत नम्रवृत्ति अथवा बुद्धि अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।।८१।।

गणधरै. प्रणतोऽस्ति यदा स्वय, समितिषूपपरत· सुखदास्वयम्।
किमु तदाप्यसतां प्रणते र्नुते,-रिति वदन्ति बुधा. सुमते, नु ते।।

निरालसी यति समिति गुप्ति में जब हो रत मन शमन करे,
गणधर आदिक महामना भी उनको मन से नमन करे।
मानी मुनिजन नमनादिक यदि नहिं करते मत करने दो,
अर्थ नहीं उसमे, जिन कहते 'यह परिषह' अघ हरने दो।।८२।।

अर्थ – सुखदायक समवसरणादि राभाओ मे बैठने वाला गुनि जब गणधरों के द्वारा साक्षात् नमस्कार को प्राप्त होता है तब उसे अन्य असत् पुरुषो के नमन और स्तवन से क्या प्रयोजन है? ऐसा हे भगवन्! आपके श्रेष्ठ मत में विद्वान् कहते हैं।।८२।।

बुधनुता जिनशास्त्रविशारदा, वसति यद् वदने शुचिशारदा।
अकवते जगतेऽमृतसारदा, गतमदाऽसुमतोडुकशारदा।।८३।।

जिन श्रुत मे है पूर्ण विशारद सम्मानित है बुधगण में,
भाग्य मानकर सदा शारदा रहती जिनके आनन मे।
मानहीन हैं, स्वार्थहीन हैं दु.खी जगत को अमृत पिला,
पर मततारकदल मे शीतलशशि है यश की अमिट शिला।।८३।।

अर्थ – विद्वानों के द्वारा स्तुत जिनशास्त्रो में निपुण पाप अथवा दु:खयुक्त जगत के लिये अमृत अथवा मोक्षरूपी सार को देने वाली अन्यवादियो का गर्व नष्ट करने वाली तथा दुर्मतरूप नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा के समान शोभायमान पवित्र जि वाणी जिसके मुख में निवास करती है वही विद्वान् है।।८३।।

समय ! यावददो न ! हि केवलं, ह्युदयतीह तरां न हि केवलम्।
त्वमसि तावदहो ननु मानतः, शृणु लघुश्च तदा किमु मानतः।।

अन्तराय का अन्त नहीं हो अतुल अमिट बल मुदित नहीं,
जब तक तुममे अनन्त अक्षय पूर्ण ज्ञान हो उदित नहीं।
ज्ञान क्षेत्र मे तब तक निज को लघुतम ही स्वीकार करो,
तन-मन-वच से ज्ञान-मान का प्रतिपल तुम धिक्कार करो।।८४।।

अर्थ – हे पूज्य ! हे सिद्धान्त के ज्ञाता ! जब तक लोकालोक को प्रकाशित करने वाला वह अद्वितीय केवलज्ञान उदित नहीं होता है तब तक तुम ज्ञान से लघु–हीन ही हो, अतः मान–गर्व करने से क्या प्रयोजन है? इसे सुनो।।८४।।

स्वसमयस्य सतोऽप्यनुवादक , समययुक्तितया जितवादकः।
परिवदेन्न मुनिर्मनसाक्षर-मसि निरक्षर एष तु साक्षर.।।

अवलोकन-अवलोडन करते जिनश्रुत के अनुवादक है,
वादीजन को स्याद्वाद से जीते पथ प्रतिपादक है।
ज्ञान परीषह सहते मुख से कभी न कहते हम ज्ञानी,
ज्ञान कहाँ है तुममे इतना महा अधम हो अज्ञानी।।८५।।

अर्थ – श्रेष्ठ सिद्धान्त का अनुवादक तथा आगम और युक्ति के द्वारा वादों–शास्त्रार्थों को जीतने वाला हाकर भी मुनि मन से यह शब्द न कहे कि तू मूर्ख है और यह विद्वान।।८५।।

विनयतो जितबोधपरीषह., श्रुतविदा जितचित्तकारी सह।
दिशतु मे सुमति तु जिनालयः स जयताः सुवि साधुगुणालय.।।

नम्र भाव से ज्ञान परीषह जीत-जी रहे मतिवर है,
तत्त्व ज्ञान से मत्त चित्त को किया नियत्रित यतिवर है।
प्रभु पद मे रत हुए मुझे भी होने सन्मति दान करें,
निलयगुणो के जय हो गुरु की मम गति का अवसान करें।।८६।।

अर्थ – जिसने प्रज्ञापरिषह को जीत लिया है जिसने शास्त्रज्ञ मुनि के साथ मनरूपी हाथी को वश किया है जो जिनेन्द्र भगवान मे लीनता को प्राप्त है तथा साधु के मूलोत्तरगुणों का स्थान है वह साधु मेरे लिये सुबुद्धि प्रदान करे तथा उनकी जय हो।।८६।।

परिषहोऽस्तु निजानुभवि श्रुत, ह्यपि मित शिवद बुधविश्रुतम्।
बहुतर तु तृण सहसाप्यल, दहति चाग्निकणी भुवि साप्यलम्।।

सहो सदा अज्ञान परीषह नियोग है यह शिव मिलता,
अल्पज्ञान पर्याप्त रहा यदि निज अनुभवता भव टलता।
बहुत दिनो का पडा हुआ है सुमेरु सम तृण ढेर रहा,
एक अनल की कणिका से बस ! जल मिटता, क्षण देर रहा।।८७।।

अर्थ – अल्पश्रुतज्ञानपरिषह भले ही रहे परन्तु आत्मानुभव से सहित विद्वज्ज प्रसिद्ध सीमित श्रुतज्ञान भी मोक्ष प्रदाता करने वाला है क्योंकि पृथिवी पर प्रसिद्ध अग्निकणो का समूह भी विपुल तृणों को शीघ्र ही भस्म कर देता है।।८७।।

व्रतवता प्रचुरः सगयो गतः, पिहितखेन मयाजितयोगतः।
मयि न वोधरवि र्ह्यभवोदित, इति चलो भव गा समबोधितः।।

सत्पथ चलता महाव्रती हो प्रचुर समय वह बीत गया,
इन्द्रिय योगों को वश करके गाता आतम गीत जिया।
किन्तु अभी तक जगी न मुझमे बोध भानु की किरण कहीं,
यूँ न सोचता, मुनिवर तजता समता की वह शरण नहीं।।८८।।

अर्थ – हे अगव। हे ससारातीत। व्रतधारण करने वाले मुझ जितेन्द्रिय ने अविचलित ध्यान से बहुत समय व्यतीत किया है फिर भी मुझमे ज्ञानरूपी सूर्य उदित नहीं हुआ ऐसा विचारकर समीचीन रत्नत्रय से विचलित न होओ।।८८।।

अयि कुधीर्महसा वचसानया, ह्युपकृता जगती त्वयि सानया।
तव मति र्न हि वित्पयसा धुता, त्विति वच. सहता किमु साधुता।।

महा मूढ है, साधु बना है, शुभकृत जीवन किया नहीं,
भविकजनो को सदुपदेश दे उपकृत अब तक किया नहीं।
महा मलिन मति चिर से तेरी ज्ञान-नीर से धुली नहीं,
सहे वचन यूँ 'व्यर्थ साधुता' अभी आँख तव खुली नहीं।।८६।।

अर्थ –अयि साधो ! हे मुने ! 'तू दुर्बुद्धि है इस दुबुर्द्धि के कारण तूने अपने वचन और तेज से नयविज्ञानशून्य पृथिवी को उपकृत नहीं किया अर्थात उसे उपदेश देकर अनुगृहीत नहीं किया। वास्तव में मेरी बुद्धि ज्ञानरूपी जल से धुली नहीं है। तेरा साधुपन क्या है? कुछ भी नहीं इस प्रकार के वचनों को सहन कर।।८६।।

समुपयोगवती मग वा सुधी. ! गुणविभासु रता तु शिवासु धी.।
कथमहं तु तदास्मि कुधीरत:, परिषह सहतेन्चिति धीरत ।।

बच करके अशुभोपयोग से जब शुभ शुचि उपयोग धरूँ,
अक्षय सुख देने वाले मुनि-गुण-गण का उपभोग करूँ।
किस विध फिर मै हो सकता हूँ कुधी, कभी नहि हो सकता,
सहता यूँ अज्ञान परीषह मन का मल वह धो सकता।।६०।।

अर्थ – 'तू कुधी है–मूख है' इत्यादि दुर्वचन सुनकर जो कुपित हो प्रत्युत्तर देता है वह परिषहविजयी नहीं है यह कहते हैं–हे सुधी। हे विद्वन्मन्य । मेरी बुद्धि समीचीन उपयोग से सहित है और कल्याणकारिणी गुणो की दीप्ति मे लीन है तब मैं कुधी कैसे हूँ। इस प्रकार जो उत्तर देता है वह क्या धीरता से अज्ञानपरिषह को सहता है? अर्थात् नहीं सहता।।६०।।

मम विदावरणेन तिरोहित, शुचिबल यदनेन गिरोहितम्।
सुरजसा कलित शुचिदर्शनम्, झटिति फूत्करणात् जिन ! दर्शनम्।।

ज्ञानावरणादिक से चिर से भला-बोध बल मलिन वही,
सहने से अज्ञान परीषह निश्चित होता विमल सही।
उड-उडकर आ रज-कण चिपके धूमिल फलत दर्पण हो,
जल से शुचि हो जिनमत गाता इसे सदा नति अर्पण हो।।६१।।

अर्थ – हे जिन ! मेरा जो निर्मल बल अथवा ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के उदय से आच्छादित था। उसे इस निन्दक ने अपनी वाणी से प्रकट कर दिया है। उचित ही है क्योकि उत्तम रज से युक्त दर्पण फूँकने से शीघ्र ही उज्ज्वल दिखने लगता है।।६१।।

मम गुणेष्वधुनापि न वृद्धयः, समुदिता मुदिता परिसिद्धयः।
इति न गच्छति साधुरुदासता, न हि विमुञ्चति ता गुरुदासताम्।।

चिर से दीक्षित हुआ अभी तक, ऋद्धि नहीं कुछ सिद्धि नहीं,
तथा गुणों में ज्ञानादिक में लेश मात्र भी वद्धि नहीं।
ऐसा मन मे विचार कर मुनि उदासता का दास नहीं,
होकर परवश कभी त्यागता जिनमत का विश्वास नहीं।।६२।।

•

अर्थ – इस समय भी – दीर्घ तपस्या के बाद भी मेरे ज्ञानादि गुणो में न वृद्धियॉं हुई और न हर्ष को बढाने वाली सिद्धिया प्रकट हुई। ऐसा विचार कर साधु उदासता को प्राप्त नहीं होता और न दीर्घकाल से चली आयी गुरुसेवा को छोडता है।।६२।।

जगति नाप्यधुना यशसा सित., स हि यमो जिनशासनशासितः।
निरतिशायि ततो जिनदर्शन-मिति न संशयित समदर्शन॰।।

जिन शासन से शासित होकर व्रत पालूँ अविराम सही,
किन्तु हुआ ना ख्यात जगत मे यश फैला ना नाम कहीं।
रहित रहा हो अतिशय गुण से जिन दर्शन यह लगता है,
समदर्शन युत मुनि मन मे ना ऐसा सशय जगता है।।६३।।

अर्थ– जगत् में जिनशास्त्रोपदिष्ट वह सयम इस समय भी यश से धवल नहीं हुआ। इस कारण जिनधर्म अतिशय से रहित है ऐसा समदर्शी मुनि को सशय नहीं करना चाहिये।।६३।।

करणमानसजं लघु वैहिकं, सुखमितं न मया किमु वै हि कम्।
जिनपशासनमानविनाशन, न हि करोति स एवमनाशन ।।।

अल्प मात्र भी ऐहिक सुख औ इन्द्रिय सुख वह मिला नहीं,
फिर, किस विध निर्वाण अमित सुख मुझे मिलेगा भला कहीं।
मुनि हो ऐसा कहता नहिं जिन-मत का गौरव नहिं खोता,
रहा अदर्शन यही परीषह-विजयी होता सुख-जोता।।६४।।

अर्थ – हे अविनश्वर भगवन् ! मैंने इन्द्रिय और मन से होने वाला थोडा भी लौकिक सुख प्राप्त नहीं किया फिर पारलौकिक सुख की तो बात ही क्या है? इस प्रकार विचार कर वह मुनि जिनशासन के सन्मान का नाश नहीं करता।।६४।।

जिनमतोन्नतितत्परजीवनं, विमलदर्शनवत् नदजीवनम्।
भवतु वृत्तवतां खलु वार्पित-परिजयोऽस्तु यदेष समर्पितः।।

जिन मत की उन्नति मे जिनका जीवन तत्पर लसता है,
उजल सलिल से भरा सरित-सा जिन मे दर्शन हँसता है।
रहा अदर्शन परिषहजय यह प्रमुख रहा मुनि यतियो का,
उनके चरणो मे नित नत हूँ विनशन हो चहुँगतियो का।।६५।।

अर्थ – यतश्च साधुओ के लिये यह परिषहजयग्रन्थ समर्पित है अत इसके फलस्वरूप उनका जीवन जिनधर्म की उन्नति में तत्पर रहे निर्मल सम्यग्दर्शन से सहित हो महानदी के जल के समान गतिशील हो और निश्चय से अर्पित–विवक्षित अदर्शनपरिषह पर विजय प्राप्त करने वाला हो।।६५।।

सपदि संपदि संविदि वा सुखी, विपदि नो भुवि योऽविदि वाऽसुखी।
स हि परीषहकान् श्रयितुं क्षमः, शुचितपश्च विधातुमिह क्षमः।।

पद-पूजन संपद संविद पा पद-पद होते सुखित नहीं,
निन्दन, आपद, अपयश मे फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी,
आत्म ध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते है भव तीर तभी।।६६।।

अर्थ – पृथ्वी पर जो सपत्ति और सम्यग्ज्ञान मे सुखी तथा विपत्ति और अज्ञान मे शीघ्र ही दुखी नहीं होता, वही परीषहो को सहन करने मे समर्थ होता है और वही निर्मल तप करने में शक्त होता है।।६६।।

यमविहीनतपश्चरणेन किं, च्युतपरीषहतश्चरणेन किम्।
ननु विना सुदृशा न हि संगत, सकलमेनस एव वशगतम्।।

दुष्कर तप से नहीं प्रयोजन संयम से यदि रहित रहा,
परिषहजय बिन नहीं सफलता यद्यपि व्रत से सहित रहा।
यम-दम-शम-सम सकल व्यर्थ है समदर्शन यदि ना होता,
पाप पंक से लिपा कलंकित जीवन मौलिक नहिं, थोथा।।६७।।

अर्थ – सयमहीन तत्पश्चरण से क्या प्रयोजन है? परीषहविजय से रहित चारित्र से क्या प्रयोजन है? सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। खेद है कि सकल जगत् पाप के वश हो रहा है।।६७।।

चर्याशय्यानिषद्यासु वान्यतमाऽस्तु चैकदा।
शीतोष्णयोर्भवेत्तद्वदागमानुभवादिति।।

शीत परीषह, उष्ण परीषह एक समय में कभी न हो,
चर्य्या, शय्या तथा निषद्या एक साथ ये सभी न हो।
ऐसा जिनवर का आगम है हम सबको यह बता रहा,
अनुभव कहता, स्ववश परीषह सहो सही, फिर व्यथा कहाँ।।६८।।

अर्थ– एक समय चर्या शय्या और निषद्या मे से कोई एक तथा शीत और उष्ण मे से कोई एक परीषह होता है। यह आगम और अनुभव से सिद्ध है।।६८।।

दशपरीषहकाश्च नवाधिका, इति भवन्तु सम विधिबाधका·।
द्वयधिकविंशतिका जिनसेविता, मम तु सन्त्वखिलास्तपसेऽहिताः।।

एक साथ उन्नीस परीषह मुनि जीवन मे हो सकते,
समता से यदि सहो साधु हो विधिमल पल में धो सकते।
सन्त साधुओ तीर्थकरो ने सहे परीषह सिद्ध हुए,
सहूँ निरन्तर उन्नत तप हो समझूँ निज गुण शुद्ध हुए।।६६।।

अर्थ – ऊपर लिखे अनुसार मुनिचर्या म बाधा डालने वाले उन्नीस परिषह एक साथ हो सकते हैं। मुनि अवस्था मे जिनेन्द्र देव को भी बाईस परीषह सहन करने पडे हैं। मेरे भी तप के लिये अहितकारी सभी परिषह हैं।।६६।।

वै विषमयीविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम्।
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम्।।

पुण्य-पाक है सुरपद संपद सुख की मन मे आस नहीं,
आतम का नित अवलोकन हो दीर्घ काल से प्यास रही।
तन से, मन से और वचन से तजूँ अविद्या हाला हे,
'ज्ञान-सिन्धु' को मथकर पीऊं समरस 'विद्या', प्याला है।।१००।।

अर्थ – मैं निश्चय से विपरूप अविद्या को छोडकर ज्ञानरूप रागर मे सगुत्पन्न (पक्ष मे ज्ञानसागर गुरु से उत्पन्न) आत्मविद्यारूपी रुधा–अगृत को प्राप्त करता हूँ। पृथिवी पर पुण्योदय से प्राप्त स्वर्ग की इच्छा नहीं कग्ता हूँ।।१००।।

वेराग्यमूर्तिं प्रणति सुनीता,चिदेकभूतिश्च शिवप्रसूति ।
विरच्यतेऽदः शतकं सुनीतेरीतेरभावोऽस्तु ततो धरायाम्।।

चिन्मय धन के धनिक रहे हैं, शिवसुख के जो जनक बने।
विरागता के सदन जिन्हे हो नगन सदा यह कनक बने।।
लिखी गई यह अल्प ज्ञान से नीतिशतक की रचना है।
रोग शोक ना रहे धरा पर ध्येय पाप से बचना है।।१।।

अर्थ – वीतराग सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशी–अर्हन्त परमेष्ठी को नमस्कार कर यह सुनीतिशतक रचा जा रहा है। इससे पृथिवी पर ईतियो का अभाव हो।।१।।
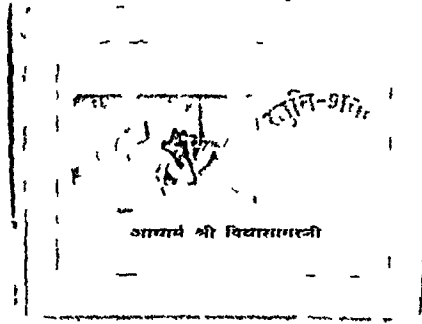
स्तुति - शतक

मूल्येन पुष्टं च मलेन जुष्ट, नवीनवस्त्र न हि नीरपायि।
गुरूपदेशामृतरागहीन , शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि।।

नया वस्त्र हो मूल्यवान हो मल से यदि वह समल रहा।
प्रथम बार तो छू नहिं सकता जल को, जल हो विमल अहा।।
उपदेशामृत सन्तो से सुन करता आना कानी है।
शास्त्रो का व्यवसाय चल रहा जिसका, बुध जो मानी है।।२।।

अर्थ – महार्घ और मलिन नवीन वस्त्र नीरस्पर्शी नहीं होता। विद्वान् भी यदि गुरुओं के उपदेशामृत सम्बन्धी राग से रहित है तो वह भी यथार्थत शास्त्रों से अपनी आजीविका ही चलाता है विद्वत्ता के फल से रहित है।।२।।

शरीरसम्बन्धिकुलादियोगा न्मुनेर्मुनित्व न मलत्वमेतु।
वर्णेन कृष्णास्तु भवन्तु गाव, कदापि कृष्णं न तु तत्पयोऽस्तु।।

शिवसुखकारक भवदुखहारक मुनि का मुनिपन विमल घना।
देहाश्रित कुल-जात पात से सुनो ! कभी ना समल बना।।
यही समझ मे सब को आता कृष्ण-वर्ण की गाये हो।
किन्तु दूध क्या? काला होता दूध धवल ही पाये ओ।।३।।

अर्थ – शरीर सम्बन्धी कुल–गोत्रादि के योग से मुनि का मुनिपना मलिनता को प्राप्त न हो। जैसे गायें वर्ण से काली भले ही हो पर उनका दूध काला नहीं होता।।३।।

वाञ्छन्ति सन्धिं न यमेन सार्धमक्षार्थमुग्धा वयसैव वृद्धाः।
विद्धि ध्रुवं तैरश्चरणेन पुष्टे, शैथिल्यभावाश्चरणे विशन्ति।।

यद्यपि वय से वृद्ध हुये ह संयम से अति ऊब रहे।
विषयरसिक हैं विरति विमुख हैं विषयो मे अति डूब रहे।।
उनकी संगति से शुचिचारित मुनियो का वह समल बने।
वृद्ध-साथ हो युवा चले यदि युवा चरण भी विकल बने।।४।।

अर्थ – इन्द्रियविषयो मे आसक्त रहने वाले जो मनुष्य सयम से सन्धि नहीं करते हैं वे अवस्था से वृद्ध हैं ज्ञान और सयम से नहीं। चारित्र मे शिथिलता रखने वाले ऐसे मनुष्य निश्चय से तिर्यञ्च योनि मे उत्पन्न होते हैं यह जानो।।४।।

ज्ञानेन वृद्धो यदि पक्षपाती, निजान्यहा स द्वयलोकशून्य ।
पय पवित्र परमार्थिपेय, लावण्ययोगात् किमु किचिदस्ति।।

ज्ञानवृद्ध औ तपोवृद्ध यदि पक्षपात से सहित तना।
उभय लोक मे सुख से वचित निज पर का वह अहित बना।।
सज्जन पीते पेय रहा है पावन पय का प्याला है।
छोटी सी भी लवण-डली यदि गिरती, फिर क्या ? हाला है।।५।।

अर्थ – ज्ञान वृद्ध मनुष्य यदि पक्षपाती है–एकान्तवादी है तो वह निज–पर का घातक और उभयलोक से भ्रष्ट होता है। पवित्र दूध परमार्थी जनो के द्वारा पेय–पीने योग्य होता है पर नमक के मिलने पर क्या कुछ रहता है? अर्थात् नहीं। अपेय हो जाता है।।५।।

अक्षार्थकारस्ते हितका भवन्ति, धर्मोऽहितः पापवतां भवेऽस्ति।।
तथ्यं च पथ्यं न हि रोचते तत्, सत्यां रुजायां विधिरोगिणेऽत्र।।

पाप पक मे फसे हुये हे, विपय राग को सुख जाने।
मोह पाश से कसे हुये हैं वीत-राग को दुख माने।।
सत्य रहा यह, कर्म-योग से जिनको होता रोग यहाँ।
पथ्य कहाँ वह रुचता उनको अपथ्य रुचता भोग महा।।६।।

अर्थ – जो मनुष्य अक्ष–आत्मराम्बधी कार्यो मे सुख मानते हैं वे इस ससार मे हितकारी हैं। पापी मनुष्यो के लिये धर्म अहितकारी जान पडता है। उचित है–कर्मरूपी रोग से युक्त मनुष्य के लिये रोग होने पर पथ्य–हितकारी वस्तु अच्छी नहीं लगती यह जो लोकप्रसिद्धि ह, वह सत्य ही है।।६।।

धनी तु मानाय धन ददाति, धनाय मानाय धिय तु धीमान्।
प्रायः प्रभावोऽस्तु कलेः किलाय, दूरोऽस्तु धर्मो नियमाच्च ताभ्याम्।।

मानभूत के वशीभूत हो धनिक दान खुद करते है।
मान तथा धन की आशा से ज्ञान-दान बुध करते है।।
प्राय ऐसा प्रभाव प्रचलित कलियुग का है विदित रहे।
वीतराग-मय पूज्य धर्म से इसीलिए ये स्खलित रहे।।७।।

अर्थ- धनी मनुष्य अहकार अथवा सम्मान के लिये धन देते हैं और विद्वान धन तथा सम्मान पाने के लिये अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं। यह प्राय कलिकाल का प्रभाव है। परमार्थत धर्म उन दोनो से दूर है।।७।।

व्रतं विदग्धं व्रतिनां धियां वा, लोभार्चिषा सारविधातृ पूतम्।
वाह्येन शेषं नहि चान्तरेण, गजेन भुक्त तु कपित्थवत् तत्।।

काल रूप ले लोभ अनल वह जीवन मे जव खिलता हे।
सुधी जनो का व्रती जनो का अपनापन ही जलता है।।
भीतर मे नहि भले वाह्य मे भेप-गात्र वह भार रहो।
निगला गज ने 'केथ' निकलता शेप मात्र वस वाहर ओ।।८।।

अर्थ व्रतीजनो अथवा ज्ञानीजनो का सारपूर्ण पवित्र व्रत यदि लोभानल से दग्ध होता है तो वह बाह्य मे ही शेप रहता है अन्तरग मे नहीं। जेसे हाथी के द्वारा निगला हुआ कैंथा वाहर मे पूर्ण दिखता है पर भीतर सार से रहित होता है।।८।।

परिग्रहो विग्रहमूल हेतु, परिग्रहो विग्रहभाव धाता।
परिग्रहो विग्रहराजमार्ग., परिग्रहोऽनेन विमुच्यते सः।।

भव भव मे नव तन का कारण यही परिग्रह माना है।
वैर-कलह का जनक रहा है यही परिग्रह बाना है।।
यही परिग्रह राजमार्ग है जिस पर शनि का विचरण हो।
अत परिग्रह तजता यह मुनि जिससे इसका सुमरण हो।।६।।

अर्थ- यतश्च परिग्रह विद्वेष का मूल कारण है परिग्रह विद्वेषभाव को धारण अथवा उत्पन्न करने वाला है और परिग्रह युद्ध का प्रमुख मार्ग है अत वह साधुओं के द्वारा छोडा जाता है।।६।।

असयतानां विदुषामपीह, ज्ञाने स्वभावत् गुणता न भातु।
स्पार्श्य न दृश्यं मृदुता न नव्यं, केशेषु घृष्टेर्भुवि मित्र! दृष्टम्।।

साक्षर होकर जीवन जिसका मोहादिक से शोभित है।
ज्ञान, ज्ञानपन से वंचित है सयम से नहि शोधित है।।
शूकर के केशो को देखो कहां ललित है जटिल कहा?
स्पर्शनीय या दर्शनीय या कोमल-कोमल कुटिल कहा?।।१०।।

अर्थ - असयमी विद्वानों की भी स्वभाव से ज्ञान विषयक गुणता–अप्रधानता सुशोभित न हो। जैसे कि पृथ्वी पर सूकर के वालो मे न स्पर्श है, न मनोहरता है न कोमलता है और न नूतनता है।।१०।।

सत्सन्निधाने पतितोऽसुमान्यः, श्रीकण्ठभाव ध्रुवमातनोति।
रस गत शुक्लदधीदमत्र, श्रीखण्ड भाव किमु नाभ्युपैति?।।

पाप पंक मे पतित हुआ हो साधु समागम यदि पाता।
प्रथम पुण्य से भव वैभव पा मुक्ति समागम पुनि पाता।।
मिश्री का यदि सुयोग पाती खट्टी हो वह यदपि दही।
इष्ट मिष्ट श्रीखण्ड बनेगी, मूढ चाहता तदपि नहीं।।११।।

अर्थ – जो मनुष्य सत्सगति मे पहुच जाता है वह निश्चित शिवत्व–शकरत्व–श्रेष्ठत्व को प्राप्त हो जाता है। इस जगत मे यह शुक्ल दही मिश्री के ससर्ग से उत्पन्न मधुररस के साथ मिलकर क्या श्रीखण्डभाव–सुस्वादुपेयता को प्राप्त नहीं हो जाता? अर्थात् हो जाता है।।११ ।।

तनूभृता व्याधिसुमन्दिरं सा, तनुर्मनोऽप्याधिकमन्दिरं तत्।
सुसाधुदेहोऽचलमन्दरो ऽस्तु, चेतः समाधेः शिवमन्दिरं तु।।

जग के जड जगम जीवो का काय व्याधि का मन्दिर है।
दुस्सह दुख का मूल हेतु है चित्त आधि का मन्दिर है।।
साधु जनो का किन्तु काय वह अचलराज है, मन्दर है।
निज-पर सुख का कारण मन है जीवित शिव का मन्दिर है।।१२।।

अर्थ – प्राणियो का वह शरीर रोगो का घर है और वह मानसिक पीडाओं का स्थान हे परन्तु सुसाधु का शरीर मेरु के समान स्थिर–परिषहविजयी और मन समाधि–ध्यान का उत्तम स्थान है।।१२।।

इता त्विति केवलबोधशक्ति , शक्तेर्विधेराभवतोऽङ्गिनां सा।
यथोदिते व्योमनि भास्करेऽस्मिन्, दलोऽप्युडूना न हि दृश्यतेऽयम्

केवलज्ञानावरणादिक जड कर्मो का जब उदय रहा।
पूर्ण ज्ञान का उदय नहीं हो अनन्त सुख का निलय रहा।।
विशाल नभ मण्डल मे जैसा उदित प्रभाकर लोहित हो।
तारक दल वह लुप्त-गुप्त हो शशि भी शीघ्र तिरोहित हो।।१३

अर्थ कर्म की सामर्थ्य से जीवों की वह केवलज्ञान की शक्ति अनादि ससार से उस तरह समा
को प्राप्त हो रही है जिस प्रकार कि इस आकाश में सूर्य के उदित होने पर नक्षत्रों का यह स
नहीं दिखाई देता है।।१३।।

धूम्रप्रसूतिर्ज्वलतो यथा स्या-दार्द्रेन्धनात् सा नियतेह दृष्टा।
विरागदृष्टे र्न हि पुष्टितुष्टी, स्यातां गृहे सा तु सरागदृष्टिः।।

गृहस्थ जब तक गृह मे रहता विरागता का श्वास नहीं।
जैसा जीवन अनुभव वैसा सरागता का वास वहीं।।
सूखी लकडी जलती जिससे धूम्र नहीं वह उठता है।
गीली लकडी मन्द जलेगी धूम्र उठे, दम घुटता है।।१४।।

अर्थ - जिस प्रकार जगत् मे अग्नि से जो धूम की उत्पत्ति देखी जाती है वह गीले इंधन के संयोग से देखी गयी है। इसी प्रकार पोषण और संतोष सरागदृष्टि के होते हैं विरागदृष्टि के नहीं। वह सरागदृष्टि घर मे रहने वालो के होती है गृहत्यागी मुनियो की नहीं।।१४।।

अध्यात्मशास्त्र शमिने सुधा स्यात्, सङ्गात्मनेऽस्मिन् विषम विष तत्।
मीनस्य नीर खलु जीवन हा, मृत्यु॰ परस्मै विदित न केन?।।

मुनियो को अध्यात्म शास्त्र वह प्राय परमामृत प्याला।
विषयरसिक है गृही जनो को विषम-विषमतम है हाला।।
जीवन-दाता प्राण-प्रदाता नीर मीन को माना है।
औरो को तो मृत्यु रहा है यही योग्यता बाना है।।१५।।

अर्थ - इस जगत् मे अध्यात्मशास्त्र शान्तपरिणामी–गृहत्यागी मुनि के लिये अमृत रूप होता है परन्तु परिग्रही गृहस्थ के लिये तो विपम विषरूप होता है। जैसे निश्चयत पानी मछली के लिये जीवन–प्राणदायक परन्तु दूसरे के लिये मृत्युरूप है यह कौन नहीं जानता?।।१५।।

स्वभाव-शुक्तिर्न विभावमुक्ति-रत्तनूभृति त्यक्ततनौ यथा स्यात्।
प्रकाशशक्ति र्न हि गन्धभावो, दुग्धेऽमलत्व तु घृते समस्तु।।

तन से रीते शिव जिन जीते उनमे सभव हो भव ना।
स्वभावदर्शन विभावघर्षण तन-धारक मे सभव ना।।
कहाँ दूध से प्रकाश मिलता तथा दूध मे गन्ध कहाँ?
प्रकाश देता तथा महकता घृत से जल का वध कहाँ?।।१६।।

अर्थ - जिस प्रकार मृत प्राणी मे न स्वभाव का सवेदन है और न विभाव का मोचन उसी प्रकार प्रकाश की शक्ति और गध का सद्भाव दूध मे नहीं है किन्तु घृत मे अच्छी तरह है। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध दशा मे शरीर का परित्याग – मरण होने पर भी आत्मस्वभाव का वेदन नहीं होता और न विकारी भावो का मोचन। किन्तु यह सब शुद्ध दशा होने पर होता है।।१६।।

भोगोपभोगेषु रतो न, मानी, योगोपयोगेषु पर प्रमाणी।
नासाग्रदृष्टि र्न हि सान्यथा ते, विनेति मानेन मनोऽनुमन्ये।।

भोग और उपभोगो से तो विरत रहे हो मानी हो।
योग और उपयोगो मे जो निरत रहे परमाणी हो।।
नासा पर फिर दृष्टि रही क्यो? ऐसा यदि भगवान नहीं,
मान बिना यह परिणति ना हो मेरा यह अनुमान सही।।१७।।

अर्थ हे भगवान्! आप भोग और उपभोग में रत–लीन नहीं हे इसलिये मानी–स्वाभिमानी हैं तथा योग–ध्यान और उपयोग–ज्ञानदर्शन मे पर–तत्पर हैं इसलिये प्रमाणी–प्रकृष्ट मान से युक्त हैं। पक्ष मे प्रमाण ज्ञान से सहित हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो आपकी नासाग्रदृष्टि नहीं हो सकती। मान के विना मन कैसे रह सकता है यह अनुमान करता हूँ।।१७।।

भूत्वा नरोऽयं सुकृतात् सुसङ्ग, व्रतं कदं नोऽप्यकद प्रयाति।
उदारदातारमगं सरिन्न, क्षारं च वार्धि कृपणं समेति।।

जीव पुण्य का उदय प्राप्तकर नर जीवन को पाकर भी।
सुखद चरित ना दुखद असंयम प्रायः पाले पागर ही।।
उदार उरनाले पर्वत पर मुडकर भी नहि हँसती है।
खरा सागर रहा कृपण है सरिता जिस मे फँसती है।।१८।।

अर्थ – यह प्राणी पुण्य से मनुष्य होकर सुखदायक व्रत को प्राप्त नहीं होता किन्तु दुखदायक परिग्रह को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि नदी उदारदानशील अग--पर्वत अथवा वृक्ष को तो प्राप्त नहीं होती किन्तु खारे और कंजूस समुद्र के पास जाती है।।१८।।

असंयते श्रीमति धीमतीह, विना प्रयत्नेन मदस्य भाव ।
दृष्टेरभावात् किल तापसेऽपि, निद्रा निशायां, समुपैति प्रायः।।

दृष्टि रहित हो घोर घोरतर तप तपता उस तापस मे।
श्रीमन्तो मे धीमन्तो मे तथा असयत मानस मे।।
अनायास ही होता रहता मद जिससे बहु दोष पले।
निशाकाल मे निद्रा जैसी प्राय आती होश टले।।१६।।

अर्थ – विवेकपूर्ण दृष्टि का अभाव होने रो सयमहीन श्रीमान् धीमान् और तापसी में भी प्रयत्न के विना ही गर्व का सद्भाव होता है यह ठीक है क्योंकि प्राय रात्रि मे निद्रा प्रयत्न के विना आती ही है।।१६।।

विनात्र रागेण वधूललाटो, विनोद्यमेनापि विभांतु देशः।
दृष्ट्या विना सच्च मुनेर्न वृत्त, रसेन शान्तेन कवे र्न वृत्तम्।।

लाल तिलक बिन ललना जनका ललाटतल ना ललित रहे।
उद्यम के बिन तथा जगत मे देश ख्यात ना दलित रहे।।
परम शान्त रस बिना किसे वह भाती कवि की कविता है।
सम दर्शन के बिना कभी ना भाती मुनि की मुनिता है।।२०।।

अर्थ – इस पृथिवी पर कुकुम के विना स्त्री का ललाट व्यवसाय–उद्योग के विना देश, सम्यग्दर्शन के विना मुनि का सम्यकचरित्र और शान्तरस के विना कवि का छन्द सुशोभित न हो।।२०।।

आसन्नमृत्युर्विषयी कषायी, निष्क्रान्तकान्तिर्ननु दीप्तमोहः।
अत्यन्तवृद्धा गहनेऽम्लिकास्तु, तथापि वृद्धाम्लिकता न सास्तु।।

जीर्ण-शीर्ण तन कान्तिहीन है पर भव भी अब निकट रहा।
मोही का पर विषयो पर ही झपट रहा मन निपट रहा।।
वहुत पुराना इमली का वह रहा वृक्ष अतिवृद्ध रहा।
किन्तु खटाई इमली की नहिं वृद्धा यह अविरुद्ध रहा।।२१।।

अर्थ – जिसकी मृत्यु निकट है तथा कान्ति निकल चुकी है ऐसा विषयकषाय से युक्त मनुष्य निश्चय से तीव्रमोह से युक्त देखा जाता है जैसे वन मे इमली के वृक्ष पुराने तो होते हैं पर उनका खटटापन क्या वही नहीं रहता?।।२१।।

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु, न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति।
अध्यात्मशृङ्ग त्यिति राति शान्तः, शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति।।

एक रहा शृगार रसो में रस मे डूबे रहते है।
तत्त्वज्ञान से विमुख रहे जो इस विध कुछ कवि कहते हे।।
किन्तु सुनो! अध्यात्मशृग तक पहुंचाता रस सार रहा।
परम-शान्त रस कवियो का वह सुखकर है शृगार रहा।।२२।।

अर्थ – 'रसो मे एक शृगार रस ही प्रमुख है ऐसा यथार्थ तत्त्व को जानने वाले कवि नहीं कहते हैं। अध्यात्म के शृग–शिखर–सर्वोच्च स्थान को जो देता है वह शृगार है इस निरुक्ति से शान ही शृगार रस है ऐसा मेरा अभिप्राय है।।२२।।

तीर्थङ्कराणां शिवकेशवानां, नामावली सा बलदेवकानाम्।
किं विस्मृता नो जगता मृता या-प्यस्मादृशां कास्तु कथेतरेषाम्।।

नारायण प्रतिनारायण औ तीर्थंकर बलदेव धनी।
महा पुरुष वे महामना वे कहां गये जिनदेव गणी?।।
काल-गाल मे कवल हुये सब विस्मृत मृत हैं आज नहीं।
हम सम साधारण जन की क्या? कथा रही यह लाज रही।।२३।।

अर्थ – तीर्थंकर रुद्र नारायण और बलभद्रो की भी नामावली मरने के बाद जब जगत् ने भुला दी तब हमारे जैसे साधारण पुरुषो की तो कथा ही क्या हो?।।२३।।

अर्थेन युक्तं नरजीवनं न, चार्थे नियुक्तं मुनिजीवनं चेत्।
खपुष्पशीलं च भुवीक्षुपुष्प-वदेव वन्द्यं न विदुर्विमानाः।।

गृही बना पर उद्यम बिन हो धन से वंचित यदि रहता।
श्रमण बना श्रामण्य रहित हो धन में रंजित यदि रहता।।
ईख-पुष्प आकाश-पुष्पसम इनका जीवन व्यर्थ रहा।
सही-सही पुरुषार्थ वन्द्य है जिस बिन सब दुखगर्त रहा।।२४।।

अर्थ – यदि गृहस्थ मनुष्य का जीवन धन से रहित है और मुनि का जीवन धन में सलग्न है तो वह पृथिवी पर आकाश पुष्प और ईख के पुष्प के समान निष्फल है अत आदरणीय नहीं है, ऐसा ज्ञानी जन जानते है – कहते हैं।।२४।।

संज्ञाततत्त्वोऽप्यधनी गृही स, लोकेऽत्र दृष्टो धनिकानुगामी।
श्वा स्वामिनं वीक्ष्य यथाशुदीनः, सुखाय संचालितलूमकोऽस्तु।।

तत्त्व-बोध को प्राप्त हुये पर धन से यश से यदि रीते।
प्रायः मानव धनी जनो की हां मे हा भर कर जीते।।
श्वान चाहता सुखमय जीवन जग में सात्त्विक नामी हो।
पीछे-पीछे पूंछ हिलाता स्वामी के अनुगामी हो।।२५।।

अर्थ – वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होकर भी निर्धन गृहस्थ सुख प्राप्ति के लिये उस प्रकार धनिको का अनुगमन उनकी हॉं मे हॉं मिलाता हुआ देखा गया है जिस प्रकार कि मालिक को देखकर सुख पाने की इच्छा से पूँछ हिलाता हुआ कुत्ता शीघ्र दीन हो जाता है।।२५।।

निश्रेयसोऽस्मै मुनये पथीह, संगोऽप्येणुः संचरतेऽस्ति विघ्नः।
वाताहतः पुच्छकमण्डलोऽपि, शिखण्डिने स्वस्य यथास्त्यरण्ये।।

मोक्षमार्ग मे विचरण करता श्रमण बना है नगन रहा।
किन्तु परिग्रह यदि रखता है अणुभर भी सो विघन रहा।।
पवन वेग से मयूर का वह पुच्छ-भार जब ताडित हो।
मयूर समुचित चल ना सकता विचलित पद हो बाधित हो।।२६।।

अर्थ – यहा मोक्षमार्ग मे सचार करने वाले इस मुनि के लिये अल्प भी परिग्रह उस तरह विघ्न करने वाला है, जिस तरह कि वन मे विचरने वाले मयूर के लिये वायु से ताडित उसके निजी पिच्छो का समूह।।२६।।

संगस्तु सगोऽस्तु समाधिकाले, संघस्य भारो यमिनेऽस्तु संङ्ग।
वृद्धाय वा भूषणकानि कानि, लघूनि वस्त्राणि गुरूणि सन्तु।।

बात संग की कहें कहां तक सुनो ! संग तो संग रहा।
सघ-भार भी अन्त समय मे संग रहा सुन दंग रहा।।
वस्त्राभरणाभूषण सारे बोझिल हो मणिहार तथा।
वृद्धावस्था में तो कोमल-मलमल भी अतिभार व्यथा।।२७।।

अर्थ – मुनि के लिये समाधि के समय परिग्रह तो परिग्रह है ही परन्तु सघ का भार–दायित्व भी परिग्रह हो जाता है। जैसे वृद्ध के लिये सुखदायक लघु आभूषण और वस्त्र भी भारी हो जाते हैं अथवा वृद्ध के लिये अल्प आभूषण क्या है लघु वस्त्र भी भारी लगने लगते हैं।।२७।।

कायेन वाचा तु गुरुः कठोरो, हितैपिणः स प्रति तान् विनेयान्।
तथा न चित्तेन मृदुर्दयैकधामा लघुः श्रीफलवत् सदास्तु।।

सुख चाहे उन शिष्यो के प्रति कठोरतर व्यवहार करे।
कभी-कभी गुरु रुष्ट हुये से वचनो का व्यापार करे।।
किन्तु ह्रदय से सदा सदय हो मार्दवतम हो लघुतम हो।
जैसा श्रीफल कठोर वाहर भीतर उज्ज्वल मृदुतम हो।।२८।।

अर्थ – हिताभिलापी सघस्थ शिष्यो के प्रति गुरु काय और वचन के द्वारा कठोर भले ही हो परन्तु मन से नारियल के समान् कोमल, दया का प्रमुख स्थान और सुगम्य सदा रहना चाहिये।।२८।।

पापाय पापैर्जिनवाक् श्रिता सा, पुण्याय पापातिगकै पुनीता।
जलस्य धारा रसमिक्षुणा च, निम्बोरगाभ्या कटुतां सुनीता।।

पापात्मा का आश्रय पाकर सन्त वचन भी पाप बने।
पुण्यात्मा का आश्रय पाकर पुण्य बने भवताप हने।।
नभ से गिरती जल की धारा इक्षु-दण्ड मे मधुर सुधा।
कटुक नीम मे अहि मे विष हो अब तो मन तू सुधर मुधा।।२६।।

अर्थ – पापी मनुष्यो ने पवित्र जिनवाणी का आश्रय पापकार्य – विषयकषाय की पुष्टि के लिये लिया है और निष्पाप–पापरहित मनुष्यों ने पुण्य के लिये। जैसे ईख जल की धारा को मधुररस प्राप्त कराती है और नीम तथा सर्प कडवा रस।।२६।।

यातोऽस्म्यहं - कारविकारभावं, कायस्य नो तं ममकारभावम्।
यास्याम्यहं कायनिकायभावं, नात्मा भृशं यन्ममकारभावम्।।

अहंकार की परिणति से मै पूर्ण रूप से विरत रहूँ।
तथा काय की ममता तजकर समता में नित निरत रहूँ।।
यही नियति है वार-वार फिर तन का धारण नहीं बने।
कारण मिटता कार्य मिटेगा प्राण विदारण नहीं बने।।३०।।

अर्थ – मैं शरीर के विषय मे अहकारभाव को और प्रसिद्ध ममकारभाव को प्राप्त नहीं हुआ हूँ अर्थात् शरीर मे मेरा-अहभाव और ममत्वभाव नहीं है। मैं शरीर में निकायभाव गृहभाव को प्राप्त हूँगा अर्थात् शरीर को गृहरूप मानूगा जिसके फलस्वरूप मेरा आत्मा कालभाव–मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकेगा।।३०।।

पापेन पापं न लयं प्रयाति, पुनस्तु पुण्यं पुरुषं पुनातु।
मलं मलेनालमलं लयं तत्, विना विलम्बेन जलेन याति।।

प्रयास पूरा भले करो तुम पाप पाप से नहिं मिटता।
पाप पुण्य से पल में मिटता पुरुष पूत हो सुख मिलता।।
मल से लथपथ हुआ वस्त्र हो मल से कब वह धुल सकता?
विमल सलित से धोलो पल में मूल रूप से धुल सकता।।३१।।

अर्थ – पाप से पाप विनाश को प्राप्त नहीं होता किन्तु पुण्य मनुष्य को पवित्र करता है। जैसे मल से मल नाश को प्राप्त नहीं होता। अत मल धोने के लिये बिल्कुल व्यर्थ है किन्तु जल के द्वारा वह मल शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है।।३१।।

विश्वस्य सारं प्रविहाय विज्ञः, कः स्वं त्यटेत् स्वं भुवि वीतमोहः।
निस्सारभूतं किमु तक्रमिष्टं, स्वादिष्ट आप्ते नवनीतसारे।।

सब सारों का सार रहा है चेतन निधि को त्याग जिया।
रहा अचेतन दुख का केतन जड वैभव मे राग किया।।
कोन रहा वह बुद्धिमान हो सारभूत नवनीत तजे।
क्षारभूत रसरीत छाछ मे भूल कभी क्या? प्रीत सजे।।३२।।

अर्थ – पृथ्वी पर ऐसा कौन निर्मोह ज्ञानी पुरुष है जो सब पदार्थों मे सारभूत अपने आत्मा को छोडकर धन को प्राप्त करना चाहे। स्वादिष्ट मक्खन रूप सार के प्राप्त हो जाने पर क्या सारहीन छाछ इष्ट होती है अर्थात् नहीं।।३२।।

धनार्जनारक्षणयोर्विलीनो, विना सुखेनार्तमना मृतो ना।
मोहस्य शक्तिर्जगता न गम्या, व्यथां गता सा चमरी यथात्र।।

धन के अर्जन संवर्धन और संरक्षण में लीन रहा।
बार-बार मर दुखी हुआ पर आत्मिक सुख से हीन रहा।।
मोह मल्ल की महा शक्ति है उसे जगत कब जान रहा।
पूंछ उलझती झाडी में है चमरी खोती जान अहा।।३३।।

अर्थ – धन के उपार्जन और सरक्षण मे लगा मानव सुख के विना दु खी होता हुआ मर जाता है जैसे इस जगत् में सुरागाय पूँछ के बालो की रक्षा में सलग्न रह पीडा को प्राप्त होती। अत मोह की शक्ति–समर्थता जगत् के गम्य नहीं हैं–जानने योग्य नहीं है।।३३।।

शस्ताः प्रजाः सन्तु राज्ञा, राजा तथा नोऽस्तु विना प्रजाभिः।
को नाम सिन्धुः परतन्त्र एव, विन्दुः स्वतन्त्रः किल सिन्धुहेतुः।।

जीवन को, जीवित रख सकती प्रजापाल के विना प्रजा।
प्रजापाल पर कहाँ रहे ओ ! कहाँ सुखी हो विना प्रजा।।
निश्चित ही पर-आश्रित है वह स्वयं भला क्या सिन्धु रहा?
किन्तु विन्दु निज आश्रित हं यह सिन्धु हेतु है विन्दु रहा।।३४।।

अर्थ – इस जगत् मे राजा के विना उत्तम प्रजा भले ही रह सकती है परन्तु प्रजा के विना राजा नहीं हो सकता है क्योकि प्रजा के रहने पर ही प्रजापति – राजा सज्ञा प्राप्त होती है। अत राजा प्रजा के अधीन होने से परतन्त्र है प्रजा स्वतन्त्र है। पानी की बूँद सागर के विना स्वतन्त्र रह सकती है परन्तु बूदो के विना सागर का अस्तित्व नहीं रह सकता क्योकि बूदो का समूह ही सागर कहलाता है।।३४।।

भोगानुवृत्तिर्विधिबन्धहेतु-र्योगानुवृत्तिर्भवसिन्धुसेतुः।
बीजानुसार कलितं फलं तत्,किं निम्बवृक्षे फलितं रसालम्।।

भोगी बन कर भोग भोगना भव बन्धन का हेतु रहा।
योगी बन कर योग साधना भव-सागर का सेतु रहा।।
जैसा तुम बोओगे वैसा बीज फलेगा अहो! सखे।
निम्ब वृक्ष पर सरस आम्रफल कभी लगे क्या? कहो सखे! ।।३५।।

अर्थ – भोगो का अनुगमन कर्मबन्धन का कारण है और योग का अनुगमन ससार–सागर का पुल है। जगत् मे बीज के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। क्या नीम के वृक्ष पर आम फलता है? अर्थात् नहीं।।३५।।

त्यक्तस्तु संगो गतमोहभावे-स्तत्रानुभूतो न हि कष्टलेश.।
स्निग्धत्वहीनात् पलितं च पत्रं, तत् पादपात् वा पतितं स्वभावात्।।

मोह भाव से दूर हुआ हे, साधु परिग्रह त्याग रहा।
समता से भरपूर हुआ है उसे कष्ट नहिं जाग रहा।।
चिकनाहट से रहित हुआ है पात पका हे पलित हुआ।
सहज रूप से वाधा विन ही पादप से वह पतित हुआ।।३६।।

अर्थ – गोहमाव से रहित मनुष्यो के द्वारा जो परिग्रह छोडा गया है उसमे उन्होने रच मात्र भी दु ख का अनुभव नहीं किया है। पका पत्र जैसे सरसता से रहित वृक्ष से टूट कर पडता है तो वह स्वमाव से पडता है।।३६।।

अक्षार्थरागो भवदुःखदाता, धर्मानुरागोः भवसौख्यदाता।
प्रभातरागे शृणु सान्ध्यरागे, किमन्तरं तत्र महन्न मित्र !।।

विषयी का बस विषयराग ही भवदुख का वह कारण है।
भविकजनों का धरम राग ही शिवकारण दुखवारण है।।
सन्ध्या में भी लाली होती प्रभात में भी लाली है।
एक सुलाती एक जगाती कितने अन्तर वाली है।।३७।।

अर्थ – इन्द्रियविषयसम्बन्धी राग सासारिकदुःख का देने वाला है और धर्मसम्बन्धी राग सासारिकसुख का देने वाला है। सुनो मित्र! क्या प्रभात की लाली और सध्या की लाली मे बडा अन्तर नहीं है? अवश्य है।।३७।।

उन्मत्ततोऽ प्यत्र सुपीतमद्यात्, सुपीडितात् वृश्चिकदंशनेन।
कपेश्च चित्तं चपलं नराणां, धन्यो यमी यस्य लयं गतं तत्।।

वैसा वानर चंचल होता मदिरा पीता पामर है।
विच्छू ने फिर उसको काटा और हुआ वह पागल है।।
उससे भी मानव मन की अति चंचलता मानी जाती।
धन्य रहा वह विजितमना जो जिनवर की वाणी गाती।।३८।।

अर्थ – इस जगत् में मनुष्यो का चित्त उस वानर से भी अधिक चञ्चल है जो स्वभाव से पागल है जिसने मदिरा पी ली है और विच्छू के काटने से अत्यन्त पीडित है। वह मुनि धन्य है जिसका कि चित्त विलीनता को प्राप्त है–स्थिर है।।३८।।

तथा प्रतीतिस्तु सुखस्य तत्र, सुखं न लेशं निजमोहभावात्।
अर्थेषु खानां जलमन्थनेन, फेनानुभावो हि तदाप्युदेति।।

पंचेन्द्रिय के विषयों मे जो प्रतीति सुख की होती हे।
मोह-भाव की परिणति है वह स्वरीति सुख को खोती है।।
जल का मन्थन करने वाला पाता नहिं नवनीत कभी।
किन्तु फेनका दर्शन पोता मति होती विपरीत तभी।।३६।।

अर्थ – आत्मविषयक अज्ञानभाव से इन्द्रियो के विषयो मे सुखित्व की प्रतीति भले ही हो परन्तु उसमे सुख का लेश भी नहीं होता। जैसे जल के मन्थन–विलोलने से फेन की अनुभूति तो उस समय होती है परन्तु घी का अश भी प्राप्त नहीं होता।।३६।।

मार्ग स्मृते र्यस्य गतो जिनेन्द्रोऽप्येनो गतं तस्य लयं समस्तम्।
नदादिनीरं मलिनं निरस्तं,वागस्त्ययोगे भवतात् पवित्रम्।।

वीतरागमय जिनवर का वह जिसके मन मे स्मरण हुआ।
ज्ञात रहे यह बात, उसी के पाप बाप का मरण हुआ।।
सावन में सरवर सरिता का मलिन रहे वह सलित भले।
अगस्त का जब उदय हुआ बस। विमल बने जल, कलित टले।।४०।।

अर्थ – जिनेन्द्र देव जिसके स्मरण पथ को प्राप्त हैं जो जिनेन्द्रदेव का ध्यान करता है उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे नदी आदि का मलिन पानी शरद् ऋतु मे निर्मल होता हुआ पवित्र हो जाता है।।४०।।

अयत्नदृष्टान् श्रुतकान् परेषां, दोषान् दयाधाम-निवासिनस्ते।
स्वप्नेऽपि वाङ्मानसकाययोगै- र्नोद्घाटयन्ति प्रशमाश्च सन्तः।।

किसी पुरुष के दोष कभी भी होश बिना जो किये गये।
अनायास ही सुधीजनों से सुने गये हो लखे गये।।
तन मन वच से कहे न पर को जग मे वे जयवन्त रहे।
सदा दया के निलय बने जो शान्तमना है सन्त रहे।।४१।।

अर्थ – दयारूप घर के निवासी शान्तपरिणामी सज्जन स्वय दुष्ट और सुने दूसरो के दोषो को मन–वचन–कायरूप योगों से स्वप्न में भी प्रकट नहीं करते हैं।।४१।।

भवाभिमुक्ता न भवे विभावे, पुनश्च भीमेऽवतरन्ति दुःखे।
तैलं तिलं तच्च घृतं तु दुग्धं, पूर्वस्वरूपं न पुनः प्रयाति।।

महा भयानक दुस्सह दु·खमय-भवसागर के पार गहे।
स्वभाव तज कर विभाव-भव में जिनवर नहिं अवतार गहे।।
तेल निकलता है तिल से, घृत तथा दूध से वह निकले।
किन्तु तेल तिल मे नहिं वदले, नहीं दूध मे घृत वदले।।४२।।

अर्थ – ससार से मुक्त सिद्धपरमेष्ठी अशुद्ध भव–ससार अथवा पर्याय और भयकर दु ख मे पुन नहीं आते। जैसे तेल अपने पूर्वरूप तिल को और घी अपने पूर्व रूप दूध को प्राप्त नहीं होता।।४२।।

लुब्धः स मुग्धो विषयेष्वघात्मा, सम्प्राप्तदृष्टिस्तु ततोऽस्तु भिन्नः।
करोतु नृत्यं मृदुमोदकान् वा, खादन् स बालोऽत्र तथा न वृद्धः।।

लुब्ध हुआ है विषयो मे अति मुग्ध कुधी वृषरीत रहे।
ज्ञानी की तुम बात पूछते जग से वह विपरीत रहे।।
बालक को जब मोदक मिलता खाता खाता नृत्य करे।
किन्तु वृद्ध वह यद्यपि खाता नृत्य करे ना तथ्य अरे।।४३।।

अर्थ – विषयों मे लुभाया मोही मनुष्य पापी है परन्तु सम्यग्दृष्टि उससे भिन्न हो। जैसे कोमल लड्डुओं को खाता बालक नृत्य करता है, वृद्ध नहीं।।४३।।

न नाग्न्यमात्रं भवमुक्तिहेतु-श्चित्तस्य नेर्ग्रन्थ्यमपीति शास्त्रम्।
गवादयो ये पशवोऽपि नग्ना-स्त्ररताः कथं स्युः शिवमन्यथा स्यात्।।

नग्न दिगम्बर तन से होना केवल यह पर्याप्त नहीं।
किन्तु विमलता साथ रहे वह मन की, कहते आप्त सही।।
ऐसा यदि ना, श्वान सिंह पशु नग्न सदा हैं सुखित बनें।
किन्तु कहां? वे सुखित वने हैं रहे निरन्तर दुखित घने।।४४।।

अर्थ – केवल नग्नता ही मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मन की निर्ग्रन्थता भी उसके साथ कारण है ऐसा शास्त्र मे कहा है। यदि ऐसा न हो तो जो बैल आदि पशु नग्न हैं वे दु खी क्यो हैं? उन्हे भी शिव–कल्याण अथवा मोक्ष प्राप्त होना चाहिये।।४४।।

गन्तुं लयं स्वात्मनि तेऽस्ति वाञ्छा त्वयार्जव चेतसि संश्रितं स्यात्।
वक्रागतिर्यद्यपि सोरगाणां, बिलप्रवेशे सरलैव दृष्टा।।

परम शान्त निज आतम मे यदि जा बसने की चाह रही।
भक्ति-भाव से भजो सरलता तजो कुटिलता 'राह यही'।।
कुटिल-चाल से चलता है अहि बाहर में यह उचित रहा।
बिल मे प्रवेश जब करता है 'सरल चाल' हो, विदित रहा।।४५।।

अर्थ – हे भव्य ! स्वकीय आत्मा में लीनता प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो तुझे चित्त मे सरलता का सेवन करना चाहिये। जैसे सापो की वह प्रसिद्ध गति यद्यपि कुटिल है तथापि बिल मे प्रवेश करते समय सीधी ही देखी गयी है।।४५।।

अब्धि र्नदैश्चानल इन्धनौघै-स्तृप्तः सुधाशीलमटेद्विषोऽपि।
आरोहितोऽसौ भुवि पङ्गुनाद्रि-र्योगान्न तृप्तोऽस्ति धनेन लोभी।।

हो सकता है जलधि तृप्त वह शत-शत सरिता नदियन से।
तथा जहर भी सुधा सरस हो अनल तृप्त हो इन्धन से।।
पंगू भी वह दैवयोग से गिरि चढ सकता संभव है।
किन्तु तृप्ति लोभी की धन से कभी न होना सम्भव है।।४६।।

अर्थ – समुद्र नदियो से और आग ईधन के समूहो से सतुष्ट हो सकता है। विष अमृत के स्वभाव को प्राप्त हो सकता है और पृथ्वी पर लूले मनुष्य के द्वारा पर्वत चढा जा सकता है परन्तु लोभी मनुष्य धन के योग से सतुष्ट नहीं हो सकता।।४६।।

मनोबलं तद् गुरु मुक्तिमार्गे, वचोबलं वापि ततो लघु स्यात्।
लघिष्ठमस्त्यङ्गबलं, धनं धिक तद् वस्तुतोऽस्मिन् न हि किंचिदस्ति।।

रहा मनोबल मुक्ति-मार्ग में साधकतम है गुरुतम है।
तथा वचन बल तरतमता से आवश्यक है कुछ कम है।।
तन बल तो बस रहा सहायक निश्चय के वह साथ सही।
किन्तु सुनो ! तुम मुक्तिमार्ग में धनबल का कुछ हाथ नहीं।।४७।।

अर्थ – मोक्षमार्ग मे मनोबल श्रेष्ठ है वचन बल भी उससे कुछ कम श्रेष्ठ है और शरीर बल सबसे लघु है परन्तु धन को धिक्कार है क्योकि वह यथार्थत मोक्षमार्ग मे कुछ भी नहीं है।।४७।।

पापं वपुर्जं त्वणुकप्रमाणं, वाक्कायजं यच्च ततोऽधिकं वा।
चित्तस्य कार्यं तु सुमेरुमानं,पापान्मनोऽतोऽस्तु सदा सुदूरम्।।

पापार्जन तन मन वच से हो पाप तनक ही तन से हो।
विदित रहे यह सब को, तनसे पाप अधिक वाचन से हो।।
कहूँ कहां तक मन की स्थिति मैं पाप मेरु सम मन से हो।
करें नियंत्रण मन को हम सब धर्म कार्य बस। मन से हो।।४८।।

अर्थ – शरीर से होने वाला पाप अणुप्रमाण है, वचन और शरीर से होने वाला पाप उससे अधिक है और मन से होने वाला पाप सुमेरुप्रमाण है – सबसे अधिक है इसलिये पाप से मन सदा दूर रहे।।४८।।

दानेन भोगी भुवि शोभते स, ध्यानेन शस्तेन तथा सयोगी।।
निःसंग-पात्रस्तु निरीहवृत्त्या, चेहा प्रतोली नरकस्य वोक्ता।।

दान धर्म में रत होने से शोभा पाता वह भोगी।
ध्यान कर्म में रत होने से शोभा पाता यह योगी।।
पात्र बना है निरीह बनना गुण माना है जिनवर ने।
नरक द्वार है इच्छा-ज्वाला हमे कहा है ऋषिवर ने।।४६।।

अर्थ – पृथ्वी पर भोगी मनुष्य दान से योगी प्रशस्त ध्यान से और निर्ग्रन्थ मुनि निस्पृह वृत्ति से सुशोभित होता है क्योकि स्पृहा–वाञ्छा नरक के प्रमुखद्वार के समान कही गई है।।४६।।

सागारको वाप्यनगारको वा, कर्मक्षयार्थ निरतोऽस्तु धर्मे।
करोतु कार्य कृषक. स कार्ष्यं, धान्याय शस्यं न तृणाय हास्यम्।।

कृषक कृषी का कार्य करे वह ध्येय धान्य का लाभ रहा।
किन्तु घास का ध्येय रहा तो हास्य पात्र वह आप रहा।।
संग सहित-सागारी हो या संग रहित-अनगारी हो।
भवक्षय करने धर्मनिरत हो शिवसुख के अधिकारी हो।।५०।।

अर्थ – सागार हो चाहे अनगार उसे कर्मक्षय के लिये ही धर्म मे लीन होना चाहिये (भोगोपभोग प्राप्ति के लिये नहीं) क्योकि किसान खेती का कार्य अन्न के लिये करता है तो प्रशस्त है और घास के लिये करता है तो हास्य–उपहास का पात्र होता है।।५०।।

पात्राय देयं विधिना प्रदाय, फलं प्रति स्याद् यदि यो निरीहः।
सदा स दातास्तु सतां मतोऽस्ति, सुखाय वै भागुभयत्र कीर्तेः।।५१।।

यथाशक्ति और तथाभक्ति से दान पात्र को दे दाता।
फल के प्रति यदि किसी तरह भी मन में लालच नहिं लाता।।
वही रहा है प्रशस्त दाता, बुध-मत हमको बतलाता।
कीर्ति फैलती जग में उसकी सुख पाता शाश्वत साता।।५१।।

अर्थ – योग्य पात्र के लिये विधिपूर्वक दान देना चाहिये और देकर यदि फल के प्रति निःस्पृह रहता है तो वह दाता सत्पुरुषो से समादृत होता है उसका वह दान सुख के लिये होता है और वह दाता दोनों लोकों में कीर्ति का भाजन होता है।।५१।।

दानं प्रशस्तं विनयेन साकं, नम्रो हि दाता बुधसेवितोऽस्तु।
सुपीतदुग्धं स वमन् सुतोऽपि, जनीं समानां न मुदा प्रपश्येत्।।

सही दान बस वही कहाता विनय-भाव से घुला हुआ।
दाता पूजित बुध जन से हो नम्र-भाव में ढला हुआ।।
दुग्ध पान करके भी बालक तुरत वमन वह कर लेता।
मानवती माता के मुख को मुडकर भी नहिं लख लेता।।५२।।

अर्थ – विनय के साथ दिया हुआ दान अच्छा होता है, क्योंकि विनम्र दाता ज्ञानिजनों से सेवित होता है। अच्छी तरह पिये दूध को उगलता हुआ शिशु भी मानिनी माता को हर्ष से नहीं देखता है।।५२।।

**चिन्तातुरोऽजस्रमयं ह्यगारी द्विवल्लभो हा मरणं तथास्तु।
परस्परं धारितवैरभावैः, शिष्यैर्गुरुः संयतकस्तथास्तु।।**

**चिन्ताओं से घिरा रहेगा आजीवन दिन रैन वही।
दो दो नारी जिसकी होती गृही जिसे सुख-चैन नहीं।।
लगभग वैसा गुरु संयत भी चिंतित रहता खेद रहा।
जिसके शिष्यो मे आपस मे वैर भाव मन-भेद रहा।।५३।।**

अर्थ – निश्चय से यह गृहस्थ निरन्तर चिन्ता से दुखी रहता है। फिर दो पत्नी वाला गृहस्थ हो तो उसका मानो मरण ही है। इसी प्रकार परस्पर वैर रखने वाले शिष्यो से सयमी गुरु भी निरन्तर चिन्ता से दुखी रहता है।।५३।।

व्रतेषु शीलं च दमो दमेषु, खानां वरोऽयं रसनेन्द्रियस्य।
दानं तु दानेष्वभयाह्वयं वै, धर्मेषु धर्मो गदितोऽप्यहिंसा।।

महाव्रतों में महा रहा है मुनियों का व्रत शील रहा।
इन्द्रियविषयों में रसना का विजय मुख्य सुखझील रहा।।
सब दानों में अभय-दान ही श्रेष्ठ रहा वरदान रहा।
सब धर्मों में धर्म-अहिंसा मान्य रहा मन मान रहा।।५४।।

अर्थ – व्रतों में शील–ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, दमन मे इन्द्रियों का दमन, उसमे भी रसनेन्द्रिय का दमन श्रेष्ठ है दानो में अभयदान श्रेष्ठ है और धर्मो मे अहिंसाधर्म श्रेष्ठ कहा गया है।।५४।।

ध्यानेषु शुक्लं च तपस्सु सत्सु, ध्यानं निधानं स्वनिधेः प्रधानम्।
विसर्जनं तद्, मधुरस्य सद्भिः, शलाघ्यं रसेषु प्रथमं प्रणीतम्।।

प्रशस्त ध्यानों मे सुखदाता शुक्ल-ध्यान वह श्रेष्ठ रहा।
प्रधान तप में ध्यान रहा निज-निधि का निधान जेष्ठ रहा।।
सभी रसों में मधुर त्याग ही प्रथम रहा बुध शलाघ्य रहा।
विज्ञ कहें बस यही साध्य है मुनियों का आराध्य रहा।।५५।।

अर्थ – ध्यानों में शुक्लध्यान अन्तरग तपों मे ध्यान आत्मनिधि का निघान कहा गया है तथा रसों में मधुररस् का त्याग सत्पुरुषों के द्वारा प्रशसनीय प्रमुख त्याग कहा गया है।।५५।।

जिनागमेऽन्योन्यविरुद्धधर्मा, नया न मानाय तदंशतोऽतः।
परस्परं तत् प्रतिकूलमास्तां, कूलद्वयं वै सरितेऽनुकूलम्।।

प्रमाण के अनुचर हो चलते जिन शासन के नय सारे।
भिन्न स्वभावी रहें परस्पर किन्तु लडें नहिं दृग-धारें।।
भले नदी के एक कूल को अन्य कूल प्रतिकूल रहे।
किन्तु नदी को कुल दोनों मिल कूल सदा अनुकूल रहे।।५६।

अर्थ – जैन सिद्धान्त मे परस्पर विरूद्ध नय सन्मान के लिये नहीं माने गये हैं क्योकि वे वस्तु के एक अश को ग्रहण करते हैं अत वे परस्पर विरूद्ध भले ही रहें परन्तु वस्तु का पूर्ण स्वरूप कहने के लिये दोनो आवश्यक हैं जैसे नदी के दो तट परस्पर विरूद्ध रहते हुए भी नदी के लिये अनुकूल होते हैं।।५६।।

दु:खस्य मूलं तनुधारणं वा, दु:खेषु दु:खं तु मनोगतं तत्।
तत्रापि दु:खं च पराभवाद्धि, स्वस्यावबोधे न हि दु:खमस्ति।।

मूढ सुनो तुम तन धारण ही दुस्सह दुख का मूल रहा।
सब दु:खो में दु:ख वही है मन को जो प्रतिकूल रहा।।
उसमें भी है महा भयानक दु·ख पराभव का होता।
आत्मबोध हो फिर क्या दुख है अभाव भव-भव का होता।।५७।।

अर्थ – दु·ख का मूल कारण शरीर का धारण करना है। दु खो मे भी मानसिक दु ख सबसे प्रबल है उसमें भी परामव से जो होता है वह अधिक प्रबल है। स्वकीय शुद्ध आत्मा के ज्ञान होने पर निश्चय से दु·ख नहीं है।।५७।।

विमुक्तसंगा मनसा रमन्ते, तत्रैव चेद् ये न शिवीभवन्ति।
मुञ्चन्ति ये यद्यपि कञ्चुकं वै, नो पन्नगा निर्गरलीभवन्ति।।

बाहर से तो छोड दिया है धन मणि कंचन सकल अहा।
किन्तु उन्हीं मे जाकर जिसका मन रमने को मचल रहा।।
शिव सुख उसको मिल नहिं सकता उसे तत्त्व क्या? खबर नहीं।
सर्प कांचली भले छोडता किन्तु छोडता जहर नहीं।।५८।।

अर्थ – परिग्रह का त्याग करने वाले जो मनुष्य मन से उसी परिग्रह मे रमण करते हैं लीन रहते हैं – वे कल्याण के भाजन नहीं होते। जैसे साप काचुली तो छोड देते हैं परन्तु विष से रहित नहीं होते।।५८।।

सुखं सुखेषूत्तममात्मजं तत्, या पञ्चमी सा गतिरुत्तमास्तु।
प्रभासु सर्वासु मणिप्रभेव, ज्ञानेषु विज्ञानमदोऽक्षयं स्यात्।।

सभी सुखों में आत्मिक सुख ही उत्तम है श्रुति गाती है।
सब गतियों में पंचम गति ही उत्तम मानी जाती है।।
सब आभाओं में मणि-आभा मानव मन को भाती है।
सब ज्ञानों में अक्षय केवल-ज्ञान ज्योति सुख लाती है।।५६।।

अर्थ – सुखों मे आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख उत्तम है। गतियो में पञ्चमगति–सिद्धगति उत्तम है, सब प्रभाओं में मणि की प्रभा उत्तम है। इसी प्रकार सब ज्ञानों मे वह अविनाशी केवलज्ञान उत्तम है।।५६।।

यथागतिः स्याच्च तथागतिः सा, यथागतिः स्याच्च तथागति. सा।
मतेरभावात्तु गतेरभावो, द्वयोरभावात् स्थितिराशु शैवे।।

जेसी मति होती है वैसी नियम रूप से गति होती।
जैसी गति होती है वैसी सुनो नियम से मति होती।।
अभाव मति का जब होता है गति का अभाव तब होता।
अभाव मति गति का होने से प्रकटित स्वभाव अब होता।।६०।।

अर्थ – जैसे मति होती है वैसी गति होता ह. जैसी गति होती है वैसी मति होती है. मति के अभाव से गति का अभाव होता है और मति–गति दोनों का अभाव होने से शीघ्र ही मोक्ष में स्थिति होती है।।६०।।

जलाश्रिता मञ्जुलवीचिमाला, स्तिम्भाश्रितं तद् भवन यथास्तु।
ज्ञानादयो ये विनयाश्रिताः स्यु-र्गुणास्तथा तेऽपि वृथान्यथा स्युः।।

जल बिन कब हो जल में उठती लहरें जल के आश्रित हो।
गगन चूंमता भवन बना है स्तम्भो पर आधारित हो।।
उत्तमतम गुण ज्ञानादिक भी विनयाश्रित हैं शोभित हैं।
बिना विनय के वृथा सभी गुण इस विध मुनि संबोधित हैं।।६१।।

अर्थ – जिस प्रकार मनोहर तरगो की सन्तति जल के आश्रित है उसी प्रकार वह प्रसिद्ध प्रासाद खम्भों के आश्रित है। इसी प्रकार जो ज्ञानादि गुण हैं वे विनय के आश्रित रहे अन्यथा वे गुण नहीं हैं।।६१।।

अजेयसेनापि विना न राज्ञा, राजा किरीटेन विना न भातु।
न्यूना गुणास्ते विनयेन सर्वे, न भान्तु तस्माद्विनयः सताप्तः।।

शक्ति-शालिनी सेना की भी राजा से ही शोभा है।
मस्तक पर वर मुकुट शोभता राजा की भी शोभा है।।
नहीं शोभता विना विनय के गुणगण का जो निलय बना।
इसीलिए बस सुधी जनो से पूजा जाता विनय घना।।६२।।

अर्थ – अजेय सेना भी राजा के बिना सुशोभित नहीं होती है, मुकुट के बिना राजा सुशोभित नहीं होता और विनय से रहित गुण भी सुशोभित नहीं होते। इसीलिये सत्पुरुषो ने विनय को प्राप्त किया है।।६२।।

अक्षप्रवृत्तेर्विषयोपलब्धि-, स्ततः कषायाश्च ततोऽस्तु बन्धः।
विधेर्गतिः स्याद् गतितोऽङ्गभारोऽ-प्यक्षाणि तत्र प्रकटीभवन्ति।।

ज्यों ही इन्द्रिय सचेत होती विषयो का बस ग्रहण हुआ।
कषाय जगती क्रोधादिक फिर विधि-बन्धन का वरण हुआ।।
विधि बन्धन से गति मिलती है गति से काया मिलती है।
काया में फिर नई इन्द्रियां नई खिडकियां खुलती हैं।।६३।।

अर्थ – इन्द्रियो मे प्रवृत्ति होने से विषयो की प्राप्ति होती है उससे कषाय उत्पन्न होते हैं कषायो से कर्मबन्ध होता है कर्म से गति होती है गति से शरीर धारण करना पडता है और शरीर मे पुन इन्द्रिया प्रकट होती हैं।।६३।।

पूर्वानुवृत्तिस्तु पुनश्चिरेयं, परम्परा वा तरुवीजवृत्तिः।
बीजे विदग्धे न तरोः प्रसूति-, र्दान्तेषु खेषु स्वत आत्मसिद्धि।।

फिर क्या पूछो वही-वही फिर चलती रहती चिर से है।
परम्परा है बीज वृक्ष से वृक्ष वीज से फिर से है।।
किन्तु बीज को दग्ध करो तो वृक्ष कहां फिर जीयेगा।
जीती, इन्द्रिय यदि तुमने तो शान्ति सुधा चिर पीयेगा।।६४।।

अर्थ – पूर्व पूर्व कारणो का अनुसरण करने वाली यह चिरकालीन परम्परा वृक्ष और बीज के समान है। अर्थात् वृक्ष से वीज होता है और बीज से वृक्ष होता है। वीज के जल जाने पर वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। इन्द्रियो का दमन होने पर आत्मा की सिद्धि स्वय हो जाती है।।६४।।

जितेन्द्रियः संयमधारकः स, ध्याने विलीनः सहजं सदास्तु।
दुग्धे द्रुतं सा किल शर्करेव, दम्यानि सभ्दिः करणानि तस्मात्।।

जीत इन्द्रियां विजितमना है यम संयम ले संयत है।
आत्म-ध्यान में सहज रूप से वही लीन हो संगत है।।
यथा-शीघ्र ही घुल मिल जाती सुनो दूध में शक्कर है।
जीतो इन्द्रिय इसीलिए तुम विषयों का तो चक्कर है।।६५।।

अर्थ – इन्द्रियो को जीतने वाला साधु सरलता से ध्यान मे उस तरह विलीन रहे जिस तरह दूध मे शीघ्र ही शक्कर विलीन हो जाती है। इसलिये सत्पुरुषों के द्वारा इन्द्रिया दमन करने के योग्य हैं।।६५।।

ज्ञानान्न वृत्तान्न च भावनायाः, सद्ध्यानशक्तेस्तु निजात्मशुद्धिः।
पृथक् कृतं किं पयसो घृतं तत्, विनाऽग्निना वोपलतो हिरण्यम्।।

ज्ञान मात्र से मात्र चरित से मात्र भावना के बल से।
सिद्धि नहीं हो, होती शुचितम ध्यान साधना के बल से।।
समुचित है यह बिना तपाये नहीं दूध से घृत मिलता।
अनल योग पा, तप-तप कर ही कनक खरा भास्वत खिलता।।६६।।

अर्थ – स्वकीय आत्मा की शुद्धि ज्ञान से नहीं होती, चारित्र से नहीं होती और भावना से नहीं होती किन्तु ध्यान से होती है। क्या अग्नि के विना दूध से घी और पाषाण से स्वर्ण को पृथक् किया गया है? अर्थात् नहीं। कर्मक्षय के लिये ज्ञान चारित्र और भावना के साथ ध्यान का होना आवश्यक है।।६६।।

विशेषसामान्यचितं सदस्तु, चितिद्वयेनाकलितं समं वै।
एकेन पक्षेण न पक्षिणस्ते, समुत्पतन्तोऽत्र कदापि दृष्टाः।।

विशेष और सामान्य गुणो से सहित वस्तु है शाश्वत है।
प्रभु के दोनों उपयोगों में एक साथ जो भास्वत है।।
फैला-फैला कर पंखो को पंछी नभ में उडता ओ।
किन्तु कभी ना दिखा किसी को एक पंख से उडता हो।।६७।।

अर्थ – वस्तु सामान्य और विशेष से तन्मय है अर्थात् द्रव्य–पर्याय से युक्त है। आत्मतत्त्व भी दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना–दोनो से एक साथ तन्मयीभाव को प्राप्त है। इस लोक में वे पक्षी क्या कभी एक पक्ष से उड़ते देखे गये हैं? नहीं।।६७।।

हिताहिते ते निहिते हि ते स्तो, निजात्मनि भ्रातरियं सदुक्तिः।
परप्रयोगोऽत्र निमित्तमात्रः, फलं ह्युपादानमसमं सदास्तु।।

हित हो अथवा अहित रहा हो निज आतम मे निहित रहे।
सन्तों के ये वचन रहे हैं तुम सव को भी विदित रहे।।
पर का इस में हाथ रहा हो निमित्त भर वह कहलाता।
उपादान में फल लगता है सुनो ! गीत तुम यह गाता।।६८।।

अर्थ – हे भाई ! तेरे हित और अहित तेरी ही निजात्मा मे निहित हैं यह सूक्ति अथवा सत्पुरुषो का कथन प्रसिद्ध है। पर–पदार्थ का प्रयोग तो इसमे निमित्त मात्र है फल तो सदा उपादान के समान ही होता है।।६८।।

मानेतु मेयस्य सुखस्य दुःखे, बन्धे हि मुक्ते र्धनिनो दरिद्रे।
पात्रे तु दातुः पथिके पथोऽपि, मुख्यस्य गौणे सुदृशोऽपि चान्धे।।

ज्ञेय-मूल्य भी ज्ञान बिना नहिं दुख ही सुख का मूल्य रहा।
बन्ध बिना नहिं मुक्ति रुचेगी निर्धन धन का मूल्य रहा।।
कौन पूछता दाता को बिन पात्र, पथिक बिन पन्था को।
गौण हुये बिन मुख्य कौन हो लोचन-मालिक, अन्धा हो।।६६।।

अर्थ – मान के रहते हुये मेय–पदार्थ का दुख के रहते सुख का बन्ध के रहते हुए मुक्ति का दरिद्र के रहते हुए धनी का पात्र के रहते हुए दाता का पथिक के रहते हुए पथ का गौण–अप्रधान के रहते हुये मुख्य का अन्धे के रहते हुए सुलोचन का अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का, अहित के रहते हुए हित का क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश मे सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है। सुनो।।६६।।

विज्ञस्य चाज्ञेऽप्यहिते हितस्य, क्षुधाभिवृद्धौ भुवि भोजनस्य।
यथात्र देशे दिनरात्रियुक्ते, दिवाकरेन्द्वोः श्रृणु मूल्यमस्ति।।

अज्ञ रहा तब मूल्य विज्ञ का बढा अन्यथा वृथा कथा।
शत्रु मित्र की याद दिलाता क्षुधा बिना है अन्न वृथा।।
उचित रहा यह जहां निशा हो तथा दिवस भी रहे जहां।
मूल्य निशाकर तथा दिवाकर का होता बुध कहें यहां।।७०।।

अर्थ – मान के रहते हुये मेय–पदार्थ का दुःख के रहते सुख का, बन्ध कें रहते हुए मुक्ति का, दरिद्र के रहते हुए धनी का, पात्र के रहते हुए दाता का, पथिक के रहते हुए पथ का गौण–अप्रधान के रहते हुये मुख्य का, अन्धे के रहते हुए सुलोचन का अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का अहित के रहते हुए हित का, क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश मे सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है। सुनो।।७०।।

विवाहितः संश्च वरो गृही सोऽ-, विवाहिताद्वा व्यभिचारिणोऽपि।
पापस्य हानिश्च वृषे मतिः स्यात्, तथेतराद् यत् शृणु पापमेव।।

अविवाहित हो जीवन जीता व्यभिचारी भी बना हुआ।
गृही विवाहित उससे वर है शुभ आचारी बना हुआ।।
एक पाप को पल पल ढोता दुर्मति से दुर्गति होती।
एक पाप को नियमित धोता धर्म कार्यरत मति होती।।७१।।

अर्थ – व्यभिचारी अविवाहित मनुष्य की अपेक्षा विवाहित – स्वदारसतोषी गृहस्थ श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता का कारण पाप की हानि और धर्म में रुचि है। इससे विपरीत कारणो–पाप की वृद्धि और धर्म में अरुचि से पाप ही होता है। यह तत्त्व की बात सुन।।७१।।

दाता दयालुः परदुःखवैरी, स श्रेष्ठिनः स्यात् कृपणात् प्रशस्तः।
अन्यान्यवित्तं ददतस्तु दातु-र्वरोऽप्यदाता नयमार्गगामी।।

कृपण सेठ से श्रेष्ठ रहा वह साधारण जीवन जीता।
दयालू दाता पर के दुख का वैरी उद्यम-जल पीता।।
प्रशस्त-दाता किन्तु नहीं जो अनीति-धन का दान करे।
दान बिना भी मान्य रहा वह नीति निपुण गुणवान अरे!।।७२।।

अर्थ – पर के दुख को दूर करने वाला दयालू दाता कजूष सेठ से अच्छा है। और दूसरे लोगो के धन–वस्तु को देने वाले दाता की अपेक्षा नीतिमार्ग पर चलने वाला अदाता श्रेष्ठ है।।७२।।

कनीयसा मे मनसा धृतो योऽ- मूर्तश्च विश्वैकगुरुर्विरागः।
श्रद्धादृशा वाधिगतोऽप्यतोऽहं, भक्तोऽपि धन्यो भगवांस्तु धन्यः।।७३।।

श्रद्धा की मम आंखो में प्रभु किसविध आ अवतार लिया।
कणभर होकर मन यह मेरा गुरुतम तुमको धार लिया।।
विराग हो तुम अमूर्त भी हो मूर्त रहा यह अन्य रहा।
धन्य रहे हो भगवन् तुम तो किन्तु भक्त भी धन्य रहा।।७३।।

अर्थ – अमूर्तिक, वीतराग और विश्व के अद्वितीय गुरु यतश्च मेरे तुच्छ हृदय के द्वारा धारण किये गये हैं अत मैं भी धन्य हू, भगवान् तो धन्य हैं ही।।७३।।

योग्यो विनेयो गुरुणा श्रमेण, नीतो गुरुत्वं किमु विस्मयोऽत्र।
पाषाणखण्डेऽपि विरागता सा, दिव्योदिता किं न हि शिल्पिनापि।।

महा विचक्षण योग्य शिष्य हो विनयी हो श्रमशील तना।
योग, योग्य गुरु का पा गुरु हो विस्मय क्या समझील बना।।
शिल्पी की वह शिल्पकला है जड भी चेतन हो जाता।
कठिन-कठिन पाषाण-खण्ड भी विराग केतन हो जाता।।७४।।

अर्थ – योग्य शिष्य यदि गुरु के द्वारा परिश्रम पूर्वक गुरुता को प्राप्त करा दिया गया है तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है? क्योंकि पाषाणख[illegible] भी शिल्पी के द्वारा क्या वह अलौकिक वीतरागता प्रकट नहीं की जाती।।७४।।

विवेकयुक्ता अलिवच्चरन्ति, सदावृता ये विषयैर्विचित्रैः।
हिताहितज्ञानविविक्तचित्ताः, कफे मृतास्ते खलु मक्षिकावत्।।

चमक दमक है जिनके चारों ओर विषय ये परे हुये।
निज में रमते सदा भ्रमर से बुधजन भ्रम से परे हुये।।
किन्तु हिताहित नहीं जानते पर में रत जड मरते हैं।
जैसे कफ में मक्खी फसती क्यों न विषय से डरते हैं?।।७५।।

अर्थ – विविध भोग सामग्रियो से सदा घिरे रहने वाले जो लोग विवेक सहित हैं वे भ्रमरों के समान योग्य विषयों का ही सेवन करते हैं और जो हिताहित के विवेक से शून्य चित्त वाले हैं वे कफ मे फँसी मक्खियो के समान निश्चय से मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।७५।।

दैवेऽनुकूले मुदितं जगद्वा,पापोदये दुःखितमेव भावात्।
आतापतस्तस्य रवेर्लता सा, या छायिकाऽऽरादतिमूर्च्छिता स्यात्।।

भाग्य खुला तो मुख खिलता है प्रायः जग यह मुदित दिखे।
पाप उदय में आता है तब मुख मुंदित हो दुखित दिखे।।
तपन ताप से नभ मण्डल औ धरती जब यह तप जाती।
पली छाव में मृदुल लता जो मूर्च्छित होती अकुलाती।।७६।।

अर्थ – भाग्य के अनुकूल रहते हुए जगत् स्वभाव से प्रसन्न होता है और पापोदय के रहते हुए स्वभाव से दुःखी रहता है। जैसे छाया मे उत्पन्न हुई लता दूरवर्तिनी होने पर भी सूर्य के सताप से अत्यधिक म्लान हो जाती है।।७६।।

संप्राप्य चारित्रसुशीलयोगं,ज्ञानं स्वयं याति सुपूर्णतां तत्।
सुशाणयोगाद्धि मणेश्च मूल्यं,काष्ठां गतं सज्जनकण्ठभागम्।।

चरित्त-शरण मे जब आता है शील-छांव मे पलता है।
ज्ञान स्वयं यह अविनश्वर शुचि पूर्ण-ज्ञान में ढलता है।
उचित शाण पर उचित समय तक अनगढ हीरा जब चढता।
सुजनो के वह कण्ठहार हो मूल्य चरम तक तब बढता।।७७।।

अर्थ – चारित्र और सुशील का सयोग पाकर साधारण ज्ञान भी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। जैसे उत्तम शाणोपल का सयोग पाकर मणि का मूल्य इतना बढ़ जाता है कि वह सज्जनो के कण्ठप्रदेश को प्राप्त हो जाता है।।७७।।

विद्वेषभावोऽपि समं स्वजात्या, कृतज्ञता सा शुनि जन्मतोऽस्तु,
अत्यल्पनिद्रापि विधेर्विपाको, विचित्र एवं गदितं सुविज्ञैः।।

नहीं भूलता उपकारक को कृतज्ञता गुण धरता है।
श्वान सन्त सम कम सोता है निद्रा से अति डरता है।।
किन्तु द्वेष रखता है निशिदिन निजी जाति से खेद यही।
खेल खेलता कर्म कहाँ कब किस विधि खुलता भेद नहीं।।७८।।

अर्थ – कुत्ता में जन्म से ही अपनी जाति के साथ विद्वेष भाव भी है, उसके कृतज्ञता गुण भी है और अल्पनिद्रा भी है। विद्वज्जनो ने कहा है कि उसका यह कर्म का विचित्र ही योग है।।७८।।

सिद्धे स्वकार्ये सति कारणानि, बाह्येतराणीति तृणीभवन्ति।
सोपानमालापि विमोचिता सा,प्रारोहितात्मोन्नत - सौधकेन।।

उपादान हो निमित्त हो या गौण मुख्य की शर्त नहीं।
कार्य पूर्ण हो जाने पर फिर कारण से कुछ अर्थ नहीं।।
बढते बढते ऊपर चढ़ते अंतिम मंजिल वह आती।
एक एक कर क्रमश: पीछे सभी सीढियां रह जाती।।७६।।

अर्थ – अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर बाह्य और अन्तरङ्ग – दोनों प्रकार के कारण तृण के समान तुच्छ हो जाते हैं। जैसे अपने ऊचे महल पर चढ़ चुकने वाले पुरुष के द्वारा सीढ़ियो की पक्ति छोड़ दी जाती है।।७६।।

रागादिकं चात्मभवं दहेत् तत्, ध्यानं शुभं चात्मभवं समन्तात्।
वनोद्भवो वातसुदीप्तदावो, भस्मीकरोतीह वनं समस्तम्।।

अशुभ-भाव से जनित भयंकर कर्मों का वह नाश करे।
शुभ भावों मे वास कर रहे ध्यान सही जिन दास! अरे!
पवन योग पा उद्दीपित वह होता दावानल वन मे।
पूर्ण जलाता राख बनाता पूरण वन को वह क्षण मे।।८०।।

अर्थ – आत्मा मे उत्पन्न हुआ शुभध्यान अपने आप मे होने वाले रागादिक भावो को सब ओर से जला देता है – नष्ट कर देता है। जैसे कि वन मे उत्पन्न और वायु से प्रचण्डता को प्राप्त दावानल समस्त वन को भस्म कर देता है।।८०।।

आद्या विरागा द्वितया सरागा, दृष्टिर्जनानां स्खलितात्मभावा।
अभ्राश्रिता सा विमला ततश्चेत्, मलाभिभुता पतिताम्बुधारा।।

यदपि मनुज की मोह भाव से सुप्त चेतना होती है।
विराग पहली दृष्टि दूसरी राग रंगिनी होती है।।
बादल दल से गिरती धारा प्रथम समय में विमला हो।
ज्यो ही धरती को आ छूती धूमिल पकिल समला हो।।८१।।

अर्थ – मनुष्य की दो दृष्टियॉ हैं एक विराग और दूसरी आत्मभाव से च्युत करन वाली सराग। विराग दृष्टि मेघाश्रित जलधारा के समान निर्गल है और दूसरी पृथ्वी पर पडी जल धारा के समान मलिन है।।८१।।

यथा पृथिव्यां करिणो नरा वा, दृष्टिं गताः श्रीफलमत्तुमीशाः।
हंसा हि मुक्ताफलभोजिन' स्युः, सिताः समित्या युतका ह्यनाशाः।।

ऐसा देखा जाता जग में सभी नहीं श्रीफल खाते।
मनुज तोड कर खाता हाथी गिरे हुये श्रीफल खाते।।
आशा के तो दास नहीं है समता धन के धनी बने।
मुक्ता खाता हस मोक्षफल खाता है मुनि गुणी बने।।८२।।

अर्थ – जिस प्रकार पृथ्वी मे दृष्टि–देखने की शक्ति को प्राप्त हाथी और दृष्टि–विचारशक्ति को प्राप्त मनुष्य श्रीफल–नारियल (पक्ष मे लक्ष्मी का फल) खाने मे समर्थ हैं उसी प्रकार सफेद हस और समताभाव से युक्त आत्मावाले अनाश–आशारहित साधु मुक्ताफलभोजी होते हैं। हस मोती चुगते हैं और साधु मुक्तिरूपी फल का अनुभव करते हैं।।८२।।

प्रत्येकभावे निजपर्यया वै, प्रतिक्षणं ये प्रलय प्रयान्ति।
मुहुर्मुहु र्या तरलेव भूत्वा, तरङ्ग माला क्षणिका तडागे।।

पल-पल में प्रति पदार्थ-दल में अपनी अपनी पर्यायें।
नई-नई छवि लेकर उठती मिटती रहती क्षणिकायें।।
तरंगमाला तरल छबीली पवन चले तब जल में है।
झिल-मिल, झिल-मिल करती उठती और समाती पल में है।।८३।।

अर्थ – प्रत्येक पदार्थ में जो अपनी पर्यायें हैं वे प्रतिक्षण विलय को प्राप्त होती हैं। जैसे तालाब में जो तरग की सतति है वह बार बार चञ्चल सी होकर विनष्ट हो जाती हैं।।८३।।

काले न कालेन न काचन श्रीः, सा चात्मतत्त्वं तु ततोऽस्तु तत्र।
समुद्यमोऽतोऽस्तु सदैव सभ्दिः, कर्तव्य एवात्महिताय तत्त्वे।।

नहीं काल में नहीं काल से सुख मिल सकता ज्ञात रहे।
सुख तो निर्मल गुण है अपना आत्म तत्त्व के साथ रहे।।
हित चाहो तो मन वच तन से निज आतम में लीन रहो।
यही प्रथम कर्तव्य रहा है भूल कभी मत दीन रहो।।८४।।

•अर्थ – कोई भी सुखादिकलक्ष्मी न किसी काल मे और न किसी काल के द्वारा होती है क्योकि वह आत्मतत्त्व है अत आत्मा मे ही हो सकती है। अत सत्पुरुषो को आत्महित के लिये आत्म तत्त्व मे ही सदा उद्योग करना चाहिये।।८४।।

ध्योयो न सेव्यो न हि चाप्युपेयो, ज्ञेयोऽपि कालो नियतोऽपि हेयः।
ध्येयः प्रमेयो निजशुद्धभावो प्युपेयको योऽत्र सुधासुपेयः।।

विज्ञ जनों के सेव्य नहीं है रहा काल यह ध्येय नहीं।
ज्ञेय भले हो नियत रहा हो किन्तु नियम से हेय सही।।
मोक्षमार्ग में शुचि चेतन ही सेव्य रहा है ध्येय रहा।
अमेय भी है उपेय भी है शान्त सुधासम पेय रहा।।८५।।

अर्थ – कालद्रव्य ध्येय नहीं है सेव्य नहीं है उपेय भी नहीं है ज्ञेय होकर भी निश्चित ही हेय है। इस जगत् मे जो निजशुद्धभाव है वह ध्येय है प्रमेय है उपेय है और सुधा के समान सुपेय है।।८५।।

त्यक्तुं न हीशा विषयान् विमूढा वदन्ति मुक्तिर्भवतोऽस्तु कालान्।
कषायभीमग्रहलुप्तबोधाः कुर्वन्ति किं किं न विनिन्द्यभावम्।।

विषय त्याग से डरते हैं जो मूढ रहे वे भूल रहे।
मुक्ति समय पर मिलती इस विध कहते है प्रतिकूल रहे।।
मोह-भूत के वशीभूत हो आत्म-बोध से रहित हुये।
कषाय-वश नर क्या नहि करता पाप पंक मे पतित हुये।।८६।।

अर्थ – जो विषयो को छोडने के लिये समर्थ नहीं हैं ऐसे मोही मनुष्य कहते हैं कि ससार से मुक्ति काल आने पर स्वय हो जायेगी। ठीक ही है, कषायरूपी भयकर पिशाच के द्वारा जिनका ज्ञान लुप्त हो गया है ऐसे मनुष्य कौन कौन निन्दनीय पाप नहीं करते हैं?।।८६।।

स्वजातिवात्सल्यगुणं दधानः संभोगकार्ये न दिवा रतोऽस्तु।
तथापि काको जगताद्वतो नो मन्येऽत्र रूढिर्न हि चान्यहेतुः।।

निजी जाति के प्रति ईर्ष्या नहिं सदा अनुराग धरे।
दिन में तो सम्भोग-कार्य मे ना रत हो ना राग करे।।
तदपि कहां है काक समादृत कारण का कुछ पता नहीं।
लगता इसमें रूढि रही हो नीति हमें यह बता रही।।८७।।

अर्थ – यद्यपि कौआ अपने जाति के साथ वात्सल्य रूप गुण को धारण करता और दिन मे रतिक्रिया में तत्पर नहीं रहता तथापि वह जगत् के द्वारा आदर को प्राप्त नहीं होता। इसमे रूढि ही कारण है ऐसा मानता हूँ। अन्य कारण नहीं है।।८७।।

आम्रादिवन्नो फलभारनम्रो गन्धान्वितं यस्य न मंजुपुष्पम्।
सेव्योऽत्र मिष्टेन रसेन सर्वै- रुद्दण्ड इक्षोर्ननु दण्डकोऽपि।।

आम्रादिक तरु सम जो होता सरस फलों से भरा नहीं।
फूल फूलता यद्यपि जिसमें गन्ध नहीं है हरा नहीं।
इक्षु दण्ड उद्दण्ड रहा है किन्तु रहा वह सरस महा।
इसीलिए आ-बाल वृद्ध सब जिसे चाहते हरस रहा।।८८।।

अर्थ – ईख का दण्ड यद्यपि आम्रादि वृक्षों के समान फलो के भार से नम्र नहीं होता और न जिसका सुन्दरफूल सुगन्ध से सहित है प्रकृति से उद्दण्ड – दण्ड रूप में खडा है (पक्ष मे अविनीत) तथापि मिष्ट रस के कारण जगत् में सब के द्वारा सेवनीय है।।८८।।

गुणीभवन्तीह यतेर्जरायां तपांसि सर्वाणि च तान्विकानि।
अयत्नमुक्तं वृषमिष्टमन्नं मन्दाग्निना वाऽकृतभोजनेन।।

तन के आश्रित जितने तप हैं गौण सभी तब होते हैं।
जरा दशा में साधक मुनिजन मौन शमी जब होते हैं।।
जिसे रोग 'मन्दाग्नि' हुआ या जिसने भोजन पाया है।
इष्ट मिष्ट भोजन से अब ना अर्थ रहा प्रभु गाया है।।८६।।

अर्थ – इस जगत मे वृद्धावस्था के समय साधु के शारीरिक तप गौण हो जाते है और मन्दाग्नि के कारण भोजन न कर सकने के कारण गरिष्ठ इष्ट भोजन बिना प्रयत्न के ही छूट जाता है।।८६।।

सुशास्तृयोगाद्धि जगत् सुखि स्यात्, स्याद्दुःखि भूरीतरतोऽप्यवश्यम्।
तानाश्रितान्नौ र्नयतेऽब्धितीरं, छिद्रान्विता घोररसातलं चेत्।।

उचित नाव के आश्रित जन को शीघ्र नदी का तीर मिले।
छिद्र सहित यदि नाव मिली तो घोर रसातल पीर मिले।।
शासक शासन उचित चलाता सबका वह संताप हरे।
अनुचित सो अभिशाप रहा है आप, पाप परिताप करे।।६०।।

अर्थ – जगत् उत्तम शासक के योग से सुखी होता है और कुशासक के योग से अत्यधिक दु खी होता है। जैसे नाव आश्रिजनो को समुद्र के तट पर पहुँचा देती है यदि वही नाव छिद्र सहित है तो भयकर रसातल मे पहुँचाती है।।६०।।

ज्ञातोऽनुभूतो यदि नात्मभाव- श्चेत्तस्य चर्चा कुरुते तपस्वी।
पित्तज्वरार्त पवनार्दितं वा, प्रलापयन्तं मनुते मनस्वी।।

बिन करनी कथनी में रत है तापस का भ्रम-भाव रहा।
ज्ञात नहीं अनुभूत नहिं क्या? शुचितम आतम-भाव रहा।।
पित्तकोप से ज्वर पीड़ित या सन्निपात का वह रोगी।
जैसा प्रलाप करता रहता उसे मानते बुध योगी।।६१।।

अर्थ – यद्यपि आत्मपदार्थ को न जाना है न उसका अनुभव किया है तथापि साधु यदि उसकी चर्चा करता है तो विचारशील मनुष्य उसे बकवाद करने वाला पितज्वर अथवा वात से पीडित मानता है।।६१।।

गौश्चर्यया पापततौ च मौनोऽ- पृष्टोऽप्यमौनो निजधर्महानौ।
भीतोऽस्ति लोकैषणतोऽप्यभीतो, दुःखोपसर्गेषु विविक्तधर्मैः।।

जिस की चर्या 'गो' सम होती पाप कार्य में मौन रहा।
बिन पूछे निर्भीक बोलता धर्म कार्य हो गौण रहा।।
तत्त्वेषण मे डूब रहा है लोकेषण से भीत रहा।
दुर्जन द्वारा दिये गये दुख उपसर्गों को जीत रहा।।६२।।

अर्थ – जो चर्या से गाय है, पाप समूह मे मौन है, निजधर्म की हानि मे बिना पूछे भी प्रतिकार करने वाला है, लौकिक ख्याति से भयभीत होने पर भी अधार्मिक मनुष्यों के द्वारा कृत दु खदायक उपसर्गों में अभीत है।।६२।।

परोपकारी तरुवन्निरीह- स्तथोद्यमी यो रविचन्द्रशीलः।
सिंहोऽसतिवृत्याऽनिलवद् विसगो, योगेन मेरुः क्षमया धरास्ति।।

शरणागत के शरण प्रदाता निरीह तरुसम उपकारी।
नियमित उद्यम मे रत रहता रवि शशि सम है तमहारी।।
सिह वृत्ति का धारक भी है सग रहित है हवा समा।
योगो मे तो अचल मेरु है धरा बना है धार क्षमा।।६३।।

अर्थ – परोपकारी होकर भी वृक्ष के समान प्रत्युपकार की इच्छा से रहित है सूर्यचन्द्रमा के समान उद्यमी है वृत्ति से सिह के समान निर्भय है वायु के समान निष्परिग्रही है ध्यान में मेरु के समान निश्चल है क्षमा मे पृथ्वी के समान सहिष्णु है।।६३।।

सत्यैकजिह्वो ऽप्यहिवद् विवासः, सुसंवृतात्मा भुवि कूर्मवद्वा।
सदृष्टलक्ष्योऽपि नदप्रवाहो, मयांच्यते संजयतात् स योगी।। (विशेषकम्)

अहि सम जिसका खुद का घर नहिं सत्य बोलता इक रसना।
जिसके तन मन सर्व-इन्द्रियां स्ववश कूर्म सम, परवश ना।।
देख चुका गन्तव्य स्थान को किन्तु नदी सम भाग रहा।
योगी वह जयवन्त रहे नित भजूं उसे मन जाग रहा।।६४।।

अर्थ – सत्यैकजिह्व है – सत्यवादी है, सर्प के समान निश्चित निवास स्थान से रहित है पृथ्वी पर कछुवे के समान अपने आपको सवृत करने वाला है और निश्चित लक्ष्य से सहित हो लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नदी के प्रवाह के समान गतिशील है, वह साधु मेरे द्वारा पूजा जाता है वह सदा जयवन्त रहे।।६४।।

अज्ञाः सदूरा ननु तेभपि विज्ञाः, स्वं नापि पश्यन्ति चलोपयोगाः।
स्वच्छेऽपि नीरे न मुखं सुदृष्टं, वातेन लोले बुधभारतीयम।।

विज्ञो का उपयोग चपल यदि निज को निहार नहिं पाते।
अज्ञो की क्या बात रही फिर पर मे विहार कर जाते।।
सलित स्वच्छ हो सरवर का पर मुख उसमे नहिं दिख सकता।
जहा पवन से लहर उठ रहीं वहा नेत्र क्या? टिक सकता।।६५।।

अर्थ – अज्ञानी जन तो निश्चयत आत्महित से अतिदूर हैं ही परन्तु चचल उपयोग वाले जो ज्ञानी भी स्वकीय आत्म तत्त्व को नहीं जानते हैं – नहीं अनुभवते हैं वे भी बहुत दूर हैं क्योकि वायु से चचल स्वच्छ जल मे भी मुख अच्छी तरह नहीं देखा गया है ऐसा ज्ञानी जनो का कहना है।।६५।।

जन्या सुतस्ताडितको रुदन् सन्, सनीरनेत्रः सहसा हसन् सः।
दृष्टोभनिमेषोभ्प्रतिशोधभावो, यथा यथाजातयतिः स्थिरीस्यात्।।

जननी सुत को ताड़ित करती नेत्र सजल हो सुत रोता।
मॉं सहलाती, भूल तुरत सब हँसमुख सुत प्रत्युत होता।।
नेत्र रहे प्रतिशोध-भाव बिन अपलक बालक जैसा हो।
महाभाग्य वह यथाजात यति व्रत का पालक वैसा हो।।६६।।

अर्थ – माता के द्वारा ताडित पुत्र रोता है, आसू बहाता है पर शीघ्र ही खिल उठता है उसमे स्पष्ट ही बदला न लेने का भाव जैसा देखा गया है वैसा ही निरग्रन्थ साधु मे भी देखा जाना चाहिये उसे भी स्थिर रहना चाहिये।।६६।।

वर्णस्य पात्रं किल विश्वशास्त्रं, मलस्य पात्रं तव रूपिगात्रम्।
चिद्वस्तुमात्रं हि सुखस्य पात्रं, सर्व ह्यपात्रं स्मर चेतसाऽत्र।।

शब्दों के तो पात्र रहे हैं जग के सारे शास्त्र महा।
मल का कोई पात्र यहां है तेरा जडमय गात्र रहा।।
सुख का पावन पात्र रहा तो शुचितम चेतन मात्र रहा।
ऐसा मन में चिंतन कर लो अपात्र सब सर्वत्र रहा।।६७।।

अर्थ – समस्त शास्त्र वर्ण – अक्षरो के पात्र हैं तेरा सुन्दर शरीर मल का पात्र है। एक चैतन्य वस्तु ही सुख का पात्र है इसके बिना समी सुख के अपात्र है ऐसा तू मन से स्मरण कर।।६७।।

या दृष्टा स्त्री प्रकृतिः साऽमूर्तो यो नियमतः स पुरुषः।
दृष्टौ स्त्रीपुरुषौ तु व्यवहारेणात्र समयोक्तौ।।

जो भी देखी जाती हमसे वही प्रकृति स्त्री कहलाती।
अमूर्त जो है पुरुष रहा वह ऐसी कविता यह गाती।।
मूर्त रूप से देखा जाता स्त्री पुरुषों का अभिनय जो।
केवल यह व्यवहार रहा है भीतर निश्चय अतिशय हो।।६८।।

अर्थ – जो देखी गई है वह स्त्री रूप प्रकृति है और जो अमूर्त है – दृष्टिगोचर नहीं है वह पुरुष है। शास्त्र में कहे गये जो स्त्री पुरुष हैं वे व्यवहार से ही कहे गये है।।६८।।

क्षुद्रोऽस्मि बोधेन बलेन वीर, त्वदाश्रयात् स्याद् विभुता ध्रुवात्र।
स्यादृगमे सा नदिका लघिष्ठा, नदीपति प्राप्य विमानपात्रा।।

बल मे बालक हूं किस लायक बोध कहां मुझ मे स्वामी।
तब गुणगण की स्तुति करने से पूर्ण बनू तुम सा नामी।।
गिरि से गिरती सरिता पहली पतली सी ही चलती है।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है।।६६।।

अर्थ – हे वीर ! मैं ज्ञान और बल से क्षुद्र हूँ – हीन हूँ, परन्तु आपके आश्रय से मुझमे निश्चित ही विभुता – विशालता हो स्कती है। जैसे कि नदी उद्‌गम स्थान पर अत्यन्त लघु होती है परन्तु समुद्र को पाकर वह विशाल प्रमाण का पात्र हो जाती है।।६६।।

नीतेः प्रणेता शिवपन्थनेता, नीत्यै मया यः प्रणतिं सुनीतः।
धनाप्तये निर्धनिभिर्धनी किं, सेव्यो न वा पृच्छति नीतिरेषा।।

रहे नीति के वीर ! प्रणेता शिवपक्ष के जो नेता हो!
नीति प्राप्त हो तुम्हे भजूं मैं सकल-तत्त्व के वेत्ता हो।।
क्यों न निर्धनी करे धनिक की सेवा धन से प्रीति रही।
रीति नीति हम कभी न भूलें गीत गा रही नीति यही।।१००।।

समय एव स्थान परिचय
धरम व्योम गति गन्ध का वीरजयन्ती योग।
मिला पुण्य के योग से मेटे भव-भव रोग।।
सम्मेदाचल तीर्थ के पाद प्रान्त में बैठ।
लिखा ईसरी नगर मे काव्य रहा यह श्रेष्ठ।।

अर्थ – जो नीति के रचयिता है तथा मोक्षमार्ग के नेता हैं ऐसे महावीर भगवान् को ही मैंने नीति – नीतिशतक की पूर्ति के लिये नमस्कार किया है। क्या निर्धन मनुष्यो के द्वारा धन प्राप्ति के लिये धनी पुरुष सेवनीय नहीं है? यह नीति आप से पूछती है।।१००।।

गुरुस्तुति

श्रीज्ञानसागरसुमन्धनजातविद्याम्
पीत्वा सुनीतिशतकं लिखितं मयेदम्।
द्यां मे न मन्दमरिच्छलोकपूजाम्,
विद्यादिसागरतनुर्लघुना यतःस्याम ।।१०१।।

मंगलकामना

विभावानामभावेऽस्मिन् ध्यानयोगेन भाविता।
साक्षात्शान्तिर्नमस्तरस्मै गताय स्व चिदात्मने ।।१।।
रतो भव निजद्रव्ये रतिर्दु.खं निजेतरे।
चिर कार्य कृत त्वन्यत् तस्मात् कुरु परेतरम् ।।२।।
सुखे दु खे विधेर्जाते नीतिविदां कथं मन ।
तिर. पुरस्कृत केन शतधैव तम कृतम् ।।३।।
तत्वदादीनि चैतानि कस्यापि स्युर्न चेतसि।
मितितिथिगतीमानि तिष्ठेत् सन्मात्रमेव हि।।४।।

रचनाकाल एव स्थान परिचय

सम्मेदाचलपूजायां रतेसरीपुरे शुभे।
रस-रव-रुप-गन्धान्दे' वीर वीरोदयाह्निके ।।५।।
पूर्णीभूतमिदं श्राव्यं काव्यं काव्यकलाङ्क्तिम्
पठनीयं समाशोध्य वुधैर्गुणोपजीविभि. ।।६।।

१ दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री ज्ञानसागर महाराज के शिष्य सतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के द्वारा यह सुनीतिशतक सस्कृत भाषा मे तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर के पादप्रान्त मे अवस्थित ईसरी नगर (गिरिडीह) बिहार, मे रस = ६, रव =आकाश = ०, रुप =५, गन्ध = २, यानी ६०५२, अकाना वामतो गति के अनुसार वीर निर्वाण सवत् २५०६ (विक्रम सवत् २०४०, शक् सवत् १६०५) के महावीर जयन्ति दिवस – चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, सोमवार, २५ अप्रेल १६८३ के दिन पूर्ण हुआ।

जिनवरा-नन-नीरज-निर्गते!
गणधरैः पुनरादर-संश्रिते!
सकल-सत्त्व-हिताय वितानिते!
तदनु तेरिति हे! किल शारदे!।।१।।

जिन मुख पंकज से निकली हो,
सविनय ऋषियो से बिखरी हो।
सकल लोक का हित हो, तम को
हरो शारदे ! वर दो हमको।।१।।

सकल-मानव-मोदविधायिनि !
मधुर-भाषिणि ! सुन्दररूपिणि !
गतमले ! द्वयलोक-सुधारिणि !
मम मुखे वस पापविदारिणि !।।२।।

मानव मन को सुधा पिलाती,
इह पर भव में सुधार लाती।
कोकिल कण्ठ रूप सलोना,
मम मुख में बस! बसो लसोना।।२।।

असि सदा हि विषक्षयकारिणि !
भुवि कृदृष्ट्य हयेऽतिविरागिनि !
कुरु कृपां करुणे करवल्लकी
मयि विभो पदपकज-षट्पदे !।।३।।

विषय दृष्टि की नागिन कंपती,
तुम करूडानी प्रभु गुण जपती।
प्रभु पद पंकज रत मुझ अलि पर,
वीणा लेकर, करुणा कर कर।।३।।

उपलजो निज-भाव-महो यदा
सुरस-योगत आशु विहाय सः।
कनक-भाव-मुपैति समेमि किं
न शुचि-भाव-महं तव योगतः।।४।।

सुरस-योग से लोहा नीला,
बनता जिस विध स्वर्णिम पीला।
मैं भी उस विध तव संगति से,
क्यों न बनूँ शुचि प्रभु सन्मति से।।४।।

जगति भारति! तेऽक्षि-युगं खलु
नय मिषेण कुमार्ग-रता-गमम्।
नयति हास्यपद न तदास्मय-
मयि! वचोऽमृत-पूर्ण-सरोवरे!।।५।।

वचनामृत पूरित तुम सर हो,
नमन युगल तव सुनय प्रखर हो।
मिथ्या आगम का उपहासा,
करे भारती यहाँ प्रकाशा।।५।।

वृषजलेन वरेण वृषापगे!
शमय तापमहो! मम दुस्सहम्।
सुख-मुपैमि निजीय-मपूर्वकं
द्रुतमहं लघुधी-रथ येन हि।।६।।

धर्मामृत की वर्षा करके।
ताप हरौ मुझे हर्षा करके।
सुखमय जीवन अथाह मम हो,
धर्मामृत के प्रवाह तुम हो।।६।।

शिरसि तेन हि कृष्णतमाः कचा-
स्त्वयि न ते निलयं परिगम्य वै।
परम-तामसका बहिरागता
इति सरस्वति! हे!किल मे वच॰।।७।।

यूँ मानूँ तव सर के सारे,
कुटिल कुटिलतम केश न काले।
तुम में आश्रय जब न पाई,
पाप पक्तियो बाहर आई।।७।।

विगत-कल्मष-भाव-निकेतने!
तव कृता वर-भक्ति-रियं सदा।
विभवदा शिवदा पविभूयता-
मिति ममास्ति शिशोशुभकामना।।८।।

प्रशम भाव के भवन बनी हो,
भक्त बना तब भक्ति बनी यो।
भव मिट, शिव हो, रहे काम ना,
इस शिशु की बस यही कामना।।८।।

शशिकलेव सितासि विनिर्मले !
विकच-कंज-जय-क्षय-लोचने !
यदि न, मानवकोऽतिसुखायते
त्वदवलोकन-मात्र-तया कथम्।।६।।

कमल हारते तुम दृग लख कर,
लसी शशी सी शुभे! सुधाकर!
हमें बता दो यदि ना यों हो,
तुमको लख मुनि प्रमुदित क्यो हो?।।६।।

शशि कला वदनाप्रभया जिता,
नयन-हारितया तव शारदे।
सपदि वै गतमान-तयेति सा
नखमिपेण तवांघ्रियुगंश्रिता।।१०।।

तब मुख की आभा से जीती,
चन्द्र चॉदनी फिर भी जीती।
तभी शारदे! तुम पद सेवा,
पद नख मिष करती स्वयमेवा।।१०।।

श्रुतियुगं तव मान-मिषेण वै,
वितथ-मान-मतं परिदूष्य च।
जिनमते गदितं यतिभिः परै-
र्यदिति सूचयतीह वरं हि तत्।।११।।

श्रवण युगल तब प्रमाण दी हैं,
कहता पर, मत प्रमाण नी है।
कहा गया यतियों से प्यारा,
प्रमाण जिनमत है आधारा।।११।।

इह सदाऽऽस्वनितं शुभकर्मणि,
भवतु मे चरणं च सुवर्त्मनि।
जगति वद्यत एव सरस्वती,
तनुधिया सदया ह्यथ या मया।।१२।।

कर्त्तव्यों मे मेरा मन हो,
शिव पथ पर ही सदा चरण हो।
सरस्वती ! तव सदय शरण हो,
मन्द मती का तुम्हें नमन हो।।१२।।

समग्र १ परिशिष्ट

■ **श्रमण शतक -**

१ कैलाशचन्द पाटनी, मत्री
आ इ दि भगवान महावीर
२५०० वॉ निर्वाण – महोत्सव सोसाइटी
अजमेर सभाग क्षेत्रीय समिति
नसिया मार्ग, अजमेर (राज) १९७४

२ दर्शनाचार्य गुलाबचद्र जैन मत्री
२५०० वॉ निर्वाण महोत्सव सोसाइटी
जबलपुर सभाग क्षेत्रीय समिति
जबलपुर (म प्र) १९७७

३ शरदकुमार बनारसी
छिन्दवाडा (म प्र) १९७८

■ **भावना शतक - (अपर नाम तीर्थकर ऐसे बने)**

निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति
कलकत्ता १९७५
जैन सूचना केन्द्र
१० ए चितपुर स्पेयर
कलकत्ता – ७

■ **निरजन शतक - (ई सन् १९७७)**

श्री सिद्धक्षेत्र कमेटी
कुण्डलपुर, १९७७

■ **परीषह जय शतक (अपरनाम ज्ञानोदय)**

दिगम्बर जैन मुनि सघ
स्वागत समिति
सागर १९८२

■ **सुनीति शतक - (ई सन् १९८३)**

१ रतनलाल हिम्मतचद्र जैन
कलकत्ता ई सन १९८३

२ आचार्य श्री विद्यासागर